भरत और उनका नाट्यशास्त्र

उत्तर मध्य क्षेत्र साँस्कृतिक केन्द्र
इलाहाबाद

भरत और उनका नाट्यशास्त्र

श्री पाण्डेय जी को सप्रेम भेंट,

सुभाचार्य
25/3/2015



भरत और उनका नाट्यशास्त्र

लेखक

डा. ब्रजवल्लभ मिश्र



[redacted] उत्तरम[redacted] क्षेत्र साँस्कृतिक केन्द्र,

इलाहाबाद

संशोधित मूल्य - साठ रुपये

प्रकाशक

उत्तर मध्य क्षेत्र साँस्कृतिक केन्द्र,
१४– सी. एस. पी. सिंह मार्ग,
इलाहाबाद २११००१

मुद्रक

लक्ष्मी प्रिन्टिंग प्रेस,
डीग गेट,
मथुरा २८१००१

फोटो कम्पोजिंग

लक्ष्मी प्रकाशन
सी २२. इण्डस्ट्रीयल एरिया
मथुरा

एक मात्र वितरक.

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, नई दिल्ली - २

प्रथम संस्करण. १९८८. प्रतियाँ ५,००० [redacted]

BHARAT AUR UNKA NATYASHASTRA BY DR. B. V. MISHRA

हमारा विचार

जिस भारतीय संस्कृति ने कभी सम्पूर्ण विश्व में अपना वर्चस्व स्थापित किया था, उस संस्कृति की स्वर्णिम सम्पदा का संरक्षण, प्रसारण तथा प्रचारण आज के युग की महती आवश्यकता है।

भौतिकवाद के विश्वव्यापी विकास के बाद आज सारी दुनियाँ के द्वारा पुनः साँस्कृतिक मूल्यों की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा है। सौभाग्य की बात है कि भारत में विषम परिस्थितियों से टकराने के बावजूद आज भी अनेक सांस्कृतिक परम्पराएँ जीवित हैं और उनमें से अनेक भारतीय परम्पराएँ आधुनिक विश्व के लिए आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है।

नाट्यशास्त्र भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रंथ है। अतः केन्द्र ने निर्णय लिया कि इस पर परिचयात्मक पुस्तक प्रकाशित की जायें। "नाट्यशास्त्र" पर अब तक जो कुछ लिखा गया, वह विद्वानों की चर्चा तक सीमित रहा है। केन्द्र ने प्रयास किया है कि "नाट्यशास्त्र" की सामग्री को इस प्रकार प्रस्तुत किया जावे कि वह अध्येताओं के साथ-साथ रंगकर्मियों के लिए भी उपयोगी हो।

डा० ब्रज बल्लभ मिश्र ने हमारे आग्रह पर हमें यह पुस्तक लिखकर दी है। डा०-मिश्र का इस विषय के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों पर समान अधिकार है। यदि पाठकों तथा रंगकर्मियों को केन्द्र का यह प्रयास लाभदायक सिद्ध हुआ तो केन्द्र इसी क्रम में अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित करेगा।

हम हिन्दी के सुविज्ञ नाटककार डा० रामकुमार वर्मा के अत्यन्त आभारी हैं। उन्होंने इस पुस्तक की भूमिका लिखकर हमारे केन्द्र को प्रोत्साहित किया है।

१४, नवम्बर १९८८

हृदयनारायण श्रीवास्तव
आई० ए० एस०
निदेशक,

स्वस्ति

डा० ब्रज बल्लभ मिश्र की साहित्यिक और कलात्मक प्रतिभा का परिचय देते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। डा० मिश्र ने वर्षों की साधना से भरत के नाट्य-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया है और नाट्य-शास्त्र के ३७ अध्यायों के अन्तर्गत जो नाट्य विषयक विविध अवतारणायें हैं, उनका सम्यक् रूप से विवेचन किया है। भरत के नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में पाठकों के हृदय में जो अनेक भ्राँतियाँ देखने में आयीं हैं, उनके निराकरण और तथ्य-सम्बन्धी समाधान उन्होंने अत्यन्त कुशलता से प्रस्तुत किये हैं।

उत्तर मध्य क्षेत्र साँस्कृतिक केन्द्र, इलाहाबाद के निदेशक श्री हृदयनारायण-श्रीवास्तव के आग्रह पर उन्होंने नाट्यशास्त्र के ५ आलेख प्रस्तुत किये हैं, जिनमें नाट्यशास्त्र का परिचय, भरत और उनके द्वारा नाटक प्रदर्शन के प्रयोग, अभिनय तथा रस और भाव विषय पर लगभग १०० पृष्ठों में अत्यन्त स्पष्टता के साथ विवेचन किया है।

इस विवेचन की प्रामाणिकता इसलिए अधिक हो जाती है कि डा० ब्रज बल्लभ-मिश्र को नाट्य-कला का व्यावहारिक ज्ञान भी है। वे स्वयं अभिनय करने में अत्यन्त कुशल हैं। मुझे विश्वास है कि इन आलेखों से नाट्यशास्त्र की हृदयंगम करने में हमारे कलाकारों की विशेष सुविधा प्राप्त होगी और नाटक के क्षेत्र में जो भ्राँन्तियाँ तथा अस्पष्टतायें कलाकारों के मन में हैं, वे निश्चिय ही दूर हो जायेंगी।

आज के परिप्रेक्ष में नाटक का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है। नाट्क दृश्य-काव्य होने के कारण इसका प्रभाव जनता पर अधिक पड़ सकता है। भरत का नाट्यशास्त्र इस देश की साँस्कृतिक भावना से सम्बद्ध है और आज के युग में जहाँ जनता भारतीय संस्कृति के प्रति उदासीन हो रही है, वहाँ इन आलेखों का प्रभाव कल्याणकारी होगा।

मैं डा० मिश्र को इन आलेखों के लेखन पर हार्दिक बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि इसका प्रकाशन सुचारू रूप से होकर जनता के बीच में समादृत होगा।

डा० मिश्र के लेखन के प्रति मेरी शुभकामनायें हैं।

डा० रामकुमार वर्मा

साकेत - इलाहाबाद - २

संकल्प

नाट्य शास्त्र पर जितना लिखा गया है, उसका दशांश भी उसे समझा नहीं गया है। नाट्यशास्त्र काव्य और कला का विश्व-कोश है।साथ ही सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों की विराट चेतना का अप्रतिम संग्रह है। अत: उसे समझने के लिए अध्येता का स्वरूप भी द्विगुणात्मक होना चाहिए।

मैं विगत ३० वर्षों से इसका अध्ययन कर रहा हूँ। मुझे अब यह ग्रंथ कुछ-कुछ समझ आने लगा है। लेखक, अभिनेता तथा निर्देशक के रूप में जीवन की लम्बी यात्रा करने के बाद अब मेरे शेष जीवन का यही संकल्प है कि मैं इस ग्रंथ के शब्दाराधन में जीवन काट दूँ। इस ग्रंथ का एक-एक श्लोक मेरे मानस में कला और काव्य की सुललित कालिन्दी बहा देता है।

यह पुस्तक इस ग्रंथ की परिचयात्मक भूमिका भर है। इसे लिखाने का श्रेय उत्तर मध्य क्षेत्र साँस्कृतिक केन्द्र, इलाहाबाद के निदेशक श्री हृदय नारायण श्रीवास्तवजी को है। मेरा तो यह विनम्र प्रयास भर है। इसके द्वारा मैंने नाट्यशास्त्र और उसके कर्त्ताओं के प्रति अपनी विनम्र भावांजलि प्रस्तुत की है।

पुस्तक के प्रारम्भ में उसी प्रकार की वार्ता-शैली को ग्रहण किया है, जिसका प्रयोग भरत ने ग्रंथ के प्रथम अध्याय में किया है। इससे शैली में रोचकता समाविष्ट हो गई है।

सामग्री के संयोजन में सिने-अभिनेता श्री सज्जन जी तथा श्री ओ. पी. शर्मा, दिल्ली को मैं नहीं भूल सकता, जिनके साथ नाट्यशास्त्र पर सन् १९७० से एक साधना प्रारम्भ की थी। उस साधना ने रहस्य की इतनी परतें खोलीं कि नाट्यशास्त्र की व्याख्या के आयाम ही बदल गए।

रंगकुटी
राजाधिराज मार्ग
मथुरा - २८१००१

ब्रजवल्लभ मिश्र
एम० ए०, पी-एच० डी०

अनुक्रम



भरहत से प्राप्त शिला-पट्ट। इसमें नर्तक दल के साथ ८ वाद्यवादक दिखाये गये हैं।समय ईसा पूर्व प्रथम शती.

औरंगाबाद की गुफा में दर्शित नृत्य-दल समय १० वीं शताब्दी

अध्याय एक

नाट्यशास्त्र क्या है?

इसके सैंतीस अध्यायों में भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम इतिहास के रहस्य छिपे हुए हैं। वैदिक काल से पहले की सभ्यता और कला के रूप की कालिन्दी बह रही है, भारतीय धर्म और दर्शन की कहानी सजी हुई है और आदिम सभ्यता से आज तक के मानव समुदाय के विकास की यात्रा के विभिन्न सोपान दिखाई देते हैं।



न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
ना सौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्नदृश्यते ।।

१-११६

कोई ज्ञान, कोई शिल्प, कोई विद्या, कोई कला, कोई योग तथा कोई कर्म ऐसा नहीं है, जो नाट्य में दिखाई न देता हो।

नाट्यशास्त्र का नाम तो आप जानते हैं, साहित्य और कला के क्षेत्र में इसके नाम की बार-बार चर्चा होती है, किन्तु क्या आप यह भी जानते हैं कि जिस 'नाट्यशास्त्र' का हम नाम लेते हैं, उसके पृष्ठों में कितने विषय छिपे हुए हैं? काव्य और कला के किस-किस अंग पर 'नाट्यशास्त्र' में कहाँ क्या लिखा हुआ है?

सचाई और ईमानदारी को यदि आप महत्त्व देते हैं तो सच-सच बताइये कि क्या आपने कभी 'नाट्यशास्त्र' को पढ़ा है? क्या आप बता सकते हैं कि उसके दसवें अध्याय में किस बात का वर्णन किया गया है? यदि हम सात्विक भाव के बारे में जानना चाहते हैं तो किस अध्याय को पढ़ें? शायद आप नहीं बता सकते। मेरे विचार से आप ही क्या, जो नाट्य-कला को अपना पेशा बनाये हुए हैं या नाट्य के नाम पर संस्थाएँ खोले बैठे हैं, वे भी नहीं बता सकते।

'**नाट्यशास्त्र**' आज बुद्धिजीवियों की बहस का मुद्दा है, उनके अध्ययन का साधन नहीं। 'नाट्यशास्त्र' आज भाषणों में पुकारने की चीज है, पढ़ने और समझने की नहीं। 'नाट्यशास्त्र' की चर्चा आज फैशन की वस्तु है, चिन्तन और मनन की नहीं। 'नाट्यशास्त्र' के नाम का उपयोग आज के बुद्धिवादी अपना प्रभाव डालने के लिए करते हैं। लेकिन यदि उन्हीं बुद्धिवादियों से आप 'नाट्यशास्त्र' के छब्बीसवें, तेईसवें, बाईसवें अध्याय की विषय-वस्तु का विवरण जानने की कोशिश करें तो लोग चतुराई से बात को टाल जायेंगे।

अध्येता कहलाने वाले ज्यादा से ज्यादा 'नाट्यशास्त्र' के चौथे अध्याय में बताये गये १०८ प्रकार के '**करणों**' की चर्चा भारत के शास्त्रीय नृत्यों के प्रसंग में कर देंगे। **अभिनय** के **आंगिक**, **वाचिक**, **आहार्य** और **सात्त्विक** भेद बता देंगे। तीन प्रकार के **प्रेक्षागृह** बता देंगे। **जर्जरध्वज**, **सूत्रधार**, **नान्दी** आदि के नाम गिना देंगे। या फिर **रस** और **भाव** के बारे में व्याख्यान देने लगेंगे। 'नाट्शास्त्र' में **कुहकाभिनय** कहाँ है और क्यों है? 'नाट्यशास्त्र' में **चित्राभिनय** के अन्तर्गत क्या-क्या प्रतीक और अभिनय बिम्ब भरतमुनि ने बताये हैं? **सामान्य अभिनय** का सही अर्थ क्या है? **पंच तन्मात्रों** का अभिनय क्या है? नाट्यशास्त्र में **अभिनेता** शब्द देखने को क्यों नहीं मिलता? 'नाट्यशास्त्र' में **संगीत** शब्द का प्रयोग क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर शायद 'नाट्यशास्त्र' की चर्चा करनेवाले अधिकांश लोगों के पास नहीं होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि 'नाट्यशास्त्र' एक अमूल्य और अक्षय सम्पदा है; किन्तु संस्कृत में होने के कारण यह अधिकांश लोगों की समझ से दूर है। जो संस्कृत नहीं जानता, उसके सामने कोई व्यक्ति 'नाट्यशास्त्र' के कुछ श्लोक बोल दे तो तुरन्त उसका प्रभाव जम जाता है। सत्य यह है कि कोई संस्कृत का कितना भी बड़ा ज्ञाता हो वह अपने संस्कृत ज्ञान के आधार पर 'नाट्यशास्त्र' के ५-६ अध्यायों को ही समझ सकता है। यदि संस्कृत ज्ञान के आधार पर पूरा 'नाट्यशास्त्र' विद्वानों की समझ में आ गया होता तो अब तक 'नाट्यशास्त्र' का अनुवाद हिन्दी ही नहीं, बंगला, तेलगू, तमिल, मराठी, गुजराती, उड़िया, असमी, मलयालम आदि सभी भाषाओं में हो चुका होता। देश का कौन सा ऐसा प्रान्त अथवा क्षेत्र है, जहाँ संस्कृत के उच्चकोटि के विद्वान नहीं हैं? साथ ही संस्कृत का ऐसा कौन सा विद्वान है, जिसने काव्यशास्त्र तथा संस्कृत नाटकों के सन्दर्भ में 'नाट्यशास्त्र' का नाम न सुना हो।

'नाट्यशास्त्र' यद्यपि संस्कृत भाषा का ग्रन्थ है। इसके ३७ अध्यायों में लगभग ६००० श्लोक हैं। किन्तु इसके साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसमें गायन, वादन, नर्तन, अभिनय तथा रंगकर्म से सम्बन्धित अनेक शिल्पों और विधाओं के इतने अधिक पारिभाषिक शब्द हैं कि उनके सही

अर्थ मात्र संस्कृत भाषा के ज्ञान से ही नहीं समझे जा सकते। उनके अर्थ कोषगत् अर्थों से पूर्णतः भिन्न हैं। साथ ही एक-एक शब्द अलग-अलग प्रसंगों में अपना अलग-अलग अर्थ देता है। यही कठिनाई है कि सारा देश विद्वानों से भरा हुआ है, किन्तु आज तक इसका शुद्ध अनुवाद नहीं हो पाया है।

कलकत्ता के सुधी विद्वान डा० मनमोहन घोष का नाम इस क्षेत्र में सदा याद रखा जावेगा। उन्होंने सन् १९५० में 'नाट्यशास्त्र' का अंग्रेजी अनुवाद किया था। वह ऐशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता से छपा था। दुर्भाग्य से उस अनुवाद में २८ से ३३ तक के ६ अध्याय नहीं थे। डा० घोष ने बाद में एक प्रयास और किया और मनीषा के नाम से दो पुस्तकों में 'नाट्यशास्त्र' प्रकाशित हुआ। एक पुस्तक में केवल मूल संस्कृत पाठ था और दूसरी में केवल अंग्रेजी अनुवाद।

डा० घोष के अंग्रेजी अनुवाद से समाज के उस वर्ग को बहुत लाभ हुआ, जो अंग्रेजी बोलने तथा लिखने का अभ्यस्त था। जैसा कहा जा चुका है कि 'नाट्यशास्त्र' का साहित्य भारत की प्राचीन कला और संस्कृति का अक्षय कोष है। अंग्रेजी वाले लोगों को यह सम्पदा मिल गई। अंग्रेजी वाले चन्द लोग जो बार-बार 'नाट्यशास्त्र' के सन्दर्भ अंग्रेजी में प्रस्तुत करते थे, थोड़े ही समय में शास्त्र के अधिकारी विद्वान बन गये। समाज में जब भी भारतीय प्राचीन कला पर कोई गोष्ठी हुई, इन्हें अध्यक्ष बनाकर बिठाया जाने लगा, किसी पत्रकार को कभी भारतीय कला पर सामग्री की अपेक्षा हुई, उनका साक्षात्कार (Interview इन्टरव्यू) लेने पहुँच गया। भारतीय कला पर किसी ने पुस्तक लिखी, भूमिका इन लोगों से लिखाई गई।

सत्य यह है कि अंग्रेजी के द्वारा 'नाट्यशास्त्र' पढ़नेवालों का ज्ञान बहुत सतही और कम है। इनके पास 'नाट्यशास्त्र' की गहरी और गम्भीर बातें संयोग से पहुँच ही नहीं पाई हैं। उस संयोग का कारण यह है कि एक तो इस वर्ग के लोगों ने डा० मनमोहन घोष के अंग्रेजी-अनुवाद के माध्यम से 'नाट्यशास्त्र' को पढ़ा है, वह अनुवाद पूर्ण नहीं था। अतः शास्त्र की पूरी विषयवस्तु का इन्हें ज्ञान नहीं हो पाया। दूसरे अंग्रेजी भाषा में वह क्षमता

नहीं है कि 'नाट्यशास्त्र' के विषयों का अंग्रेजी में अनुवाद कर सके। मैंने स्वयं इस स्थिति को झेला है। सिनेजगत् के प्रसिद्ध अभिनेता सज्जन जी, मॉडर्न स्कूल, दिल्ली के फोटोग्राफी विभाग के अध्यक्ष, श्री ओ० पी० शर्मा तथा मैंने सन् १९७० में 'नाट्यशास्त्र' के छटवें और सातवें अध्याय को आधार बनाकर '**रस-भाव-दर्शन**' नामक एक परियोजना पर कार्य करना प्रारम्भ किया। हम तीनों ने निरन्तर १० वर्ष इस परियोजना पर काम किया और सन् १९८१ में वह पूर्ण हुआ। सज्जन जी ने भरत के निर्देश के अनुसार रस और भाव की मुद्रायें बनाईं; श्री ओ० पी० शर्मा ने उनके २१५ विभिन्न चित्र खींचे और मैंने संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी में सम्बन्धित श्लोक और कारिकाओं का सम्पादन और अनुवाद का कार्य किया। डा० घोष की अंग्रेजी शब्दावली से मैं किंचित भी सहमत नहीं था, उन्होंने रस और भाव के अनेकों नामों के लिए अंग्रेजी में विशेषण शब्द प्रयुक्त किए, जबकि संस्कृत में वे भाववाचक संज्ञायें थीं। मेरा दृष्टिकोण था कि अनुवाद में संज्ञा के लिए संज्ञा ही आनी चाहिए, विशेषण नहीं। दूसरी मेरी आपत्ति यह थी कि शब्द का अनुवाद करते समय अंग्रेजी-कोष को आधार न बनाया जाये, भरत के मूल भाव को समझा जाये।

एक शब्द के उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। श्रृंगार नामक शब्द संस्कृत और हिन्दी में बहुत प्रसिद्ध हैं। डा० घोष ने इसके लिए अंग्रेजी में (EROTIC) 'ऐरोटिक' शब्द का प्रयोग किया। 'ऐरोटिक' वस्तुतः '**ईरोज**' शब्द से बना है और '**कोष्स का सिनोनिम्स**' देखने पर ज्ञात हुआ कि 'ऐरोटिक' में यौन-वासना सम्मिलित है। भरत ने श्रृंगार रस के स्वरूप का वर्णन करते हुए इसे '**आचारसिद्धो उज्ज्वलवेषात्मक**' बताया है। अब प्रश्न यह है कि भरत की कल्पना का श्रृंगार उज्ज्वल वेशवाला है, आचारसिद्ध है, उसमें दूर तक वासना की गन्ध नहीं है, तब उसके लिए 'ऐरोटिक' शब्द का प्रयोग कहाँ तक उचित है ?

मैं लम्बे समय तक अनेक कोष देखता रहा। डा० अज्ञेय से विचार-विमर्श किया, डा० विद्यानिवास मिश्र, डा० माणिक, जी० चतुर्वेदी और न जाने कितने विद्वानों से कितनी बार विचार-विमर्श हुआ। किसी के पास ऐसा समाधान नहीं था, जो भरतमुनि की मूल भावना को साकार कर सके।

अंग्रेजी भाषा की असमर्थता यह है कि उसमें **रस** के लिए कोई शब्द नहीं है। विदेशी विद्वानों को जब रस पर लिखना पड़ा तो उन्होंने इसके लिए शब्द गढ़े '**एस्थैटिक प्लैजर**' और कभी '**एस्थैटिक एक्सपीरियेन्स**' पर अंग्रेजी भाषा में रस के लिए कोई एक शब्द नहीं था। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अंग्रेजी के माध्यम से 'नाटयशास्त्र' पढ़नेवालों की 'नाट्यशास्त्र' सम्बन्धी कैसी और कितनी जानकारी होगी? 'नाट्यशास्त्र' के नाम की महिमा इतनी विलक्षण है कि जिन अंग्रेजी के चन्द लोगों ने अंग्रेजी में इस पर बोलना और लिखना शुरू किया, वे आज देश में इस विषय के अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं।

अनोखी बात है। 'नाट्यशास्त्र' को संस्कृत के माध्यम से इसलिए पूरी तरह नहीं समझा जा सकता; क्योंकि उसमें गायन, वादन, नर्तन, अभिनय आदि के हजारों पारिभाषिक शब्द हैं। जब तक उन शब्दों के सही अर्थ का ज्ञान न हो, इस ग्रन्थ की बारीकियों को नहीं पहचाना जा सकता। अंग्रेजी भाषा में वह शक्ति नहीं कि इसके शब्दों की मूल आत्मा को साकार कर सके।

इसके अलावा इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होने का इतिहास और उससे सम्बन्धित समस्यायें भी रही हैं। अन्य लेख में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यहाँ संक्षेप में इतना ही समझ लेना जरूरी है कि स्वर्गीय एम० रामकृष्ण कवि ने देश भर में फैली 'नाट्यशास्त्र' की समस्त पाण्डुलिपियों को सामने रखकर, '**अभिनव भारती**' नामक टीका का सहारा लेकर, लगभग ४५ वर्ष तक कठोर परिश्रम किया और इसका सही पाठ तैयार किया। यह ४ भागों में प्राच्य-विद्या-संस्थान, बड़ौदा से विभिन्न कालों में प्रकाशित हुआ। इस समय '**नाट्यशास्त्र**' का उससे अधिक सही और प्रामाणिक पाठ दूसरा कोई नहीं है। निर्णय सागर प्रेस, बम्बई तथा चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस से भी इसके मूल पाठ विभिन्न कालों में प्रकाशित हुए हैं; किन्तु सबसे अधिक शुद्ध पाठ बड़ौदावाला ही माना जाता है।

बड़ौदा से चारों भाग लगभग ४० वर्ष की अवधि में अलग-अलग

समय में प्रकाशित हुए। नतीजा यह हुआ कि कहीं किसी पुस्तकालय में इसके पहले दूसरे भाग हैं तो तीसरा-चौथा नहीं। कहीं ३ भाग हैं, कहीं एक भाग है, कहीं २ भाग हैं। बहुत पहले मथुरा के राजकीय संग्रहालय के अध्यक्ष डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे विद्वान थे। 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग उनके समय में छपे। अतः उन्होंने पुस्तकालय में मँगा लिये। चौथा भाग आज भी वहाँ नहीं है। दिल्ली विश्वविद्यालय, ऐशियाटिक सोसाइटी ऑफ बौम्बे के प्राचीन और विशाल पुस्तकालयों में भी 'नाट्यशास्त्र' के पूरे भाग आज देखने को नहीं मिलते। मैं स्वयं सन् १९६९-७० में दिल्ली तथा बम्बई के अनेक बड़े-बड़े पुस्तकालयों में खोज चुका हूँ। मुझे बहुत निराशा हुई। पूरे 'नाट्यशास्त्र' के हिन्दी अनुवाद का मैंने संकल्प लिया। जगह-जगह भटका कि चारों भाग कहीं मिलें। नहीं मिलें। तब अलग-अलग स्थानों से एकत्र किए। ८ फरवरी, १९७२ को मैसर्स मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली से इसके प्रकाशन हेतु मेरा अनुबन्ध हुआ। दुर्भाग्य से फर्म के वयोवृद्ध संचालक और प्राच्य साहित्य के पारखी श्री-सुन्दर लाल जी का देहान्त हो गया और इसके प्रकाशन की योजना खटाई में पड़ गई।

'नाट्यशास्त्र' का अनुवाद समाप्त करने के बाद मैं जहाँ-जहाँ से जो भाग माँगकर लाया था, मैंने लौटा दिये। पिछले वर्षों में मैंने विचार किया कि 'नाट्यशास्त्र' की पारिभाषिक शब्दावली का कोश बन जाये तो अध्येताओं के लिए इसका अध्ययन सरल हो जाएगा। मैं संकल्प लेकर काम पर जुट गया। कई वर्ष तक शब्दों से जूझता रहा। अन्त में **श्री केशव कोठारी** और **डा० कपिला वात्स्यायन** ने मुझे प्रेरित किया, प्रोत्साहित किया और मैं काम पर जुट गया। **'नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक सन्दर्भ-कोश'** बनाने के समय मुझे पुनः चारों भागों की आवश्यकता हुई। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने मुझे इस काम के लिए ४० हजार रुपये की वित्तीय सहायता दी। मुझे ज्ञात हुआ कि **नटेश्वर कला मन्दिर, दिल्ली** प्राचीन ग्रन्थों की माँग पूरी करता है। कोष-रचना के समय उन्होंने चारों भागों की फोटो कॉपी की जिल्दें मुझे दीं, तब मैं काम पूरा कर सका।

यह एक सच्चाई है कि 'नाट्यशास्त्र' के बारे में पूरी और सही

जानकारी जब चाहने वाले विद्वानों को नहीं मिल पाती तब साधारण जनता को भला कैसे मिल सकती है? इसलिए सबसे पहले हम यहाँ, संक्षेप में यह बताना जरूरी समझते हैं कि 'नाट्यशास्त्र' के ३७ अध्यायों में क्या है ?

अध्यायों की विषय-वस्तु की जानकारी से पहले यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि देश में 'नाट्यशास्त्र' के दो रूप प्रचलित हैं। काव्यमाला सीरीज के अन्तर्गत, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से छपनेवाले 'नाट्यशास्त्र' में ३७ अध्याय थे। चौखम्बा प्रकाशन, बनारस से छपनेवाले 'नाट्यशास्त्र' में ३६ अध्याय थे। प्राच्य-विद्या-संस्थान, बड़ौदा से प्रकाशित होने वाले 'नाट्यशास्त्र' में ३७ अध्याय हैं। देश के विद्वानों का बहुमत बड़ौदा से प्रकाशित पाठ को सबसे अधिक प्रामाणिक मानता है। मैंने भी स्वर्गीय एम० रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित बड़ौदावाले पाठ को ही प्रामाणिक माना है।

'नाट्यशास्त्र' में ३६ अध्याय हैं या ३७ यह विवाद १२वीं शताब्दी में अभिनव गुप्त के सामने भी रहा है। जब अभिनव गुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनव भारती' नामक टीका लिखनी शुरू की तब प्रारम्भ के मंगलाचरण में उसने स्वयं लिखा कि मैं भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' के ३६ अध्यायों की व्याख्या लिख रहा हूँ। किन्तु जब ग्रन्थ का अन्त किया तब लिखा, सैंतीसवें अध्याय की समाप्ति यहाँ करता हूँ। जिस 'अभिनव भारती' के प्रारम्भ में आचार्य अभिनव गुप्त ने ३६ अध्यायों की घोषणा की, उसी ग्रन्थ के ३७ अध्यायों की उसने टीका लिखी।

अध्यायों की गिनती समझने में इसलिए कोई परेशानी नहीं होती कि 'नाट्यशास्त्र' की रचना पुराणों की लेखन शैली के अनुसार हुई है। इस शैली की कुछ विशेषतायें हैं। जब एक अध्याय समाप्त होता है, तब शास्त्रकार लिखता है कि यहाँ अमुक विषय समाप्त हुआ, अब आगे मैं अमुक विषय का कथन करूँगा। 'नाट्यशास्त्र' के प्रत्येक अध्याय के अन्त में लेखक उस अध्याय में वर्णित किए जाने वाले विषय की समाप्ति की चर्चा करता है और अगले अध्याय के विषय की घोषणा करता है।

अध्याय एक

पहले अध्याय में ग्रन्थकार ने सबसे पहले भगवान शिव को प्रणाम किया है। उसके बाद वह कहता है कि एक छुट्टी के दिन स्नान-ध्यान से निवृत्त होकर ऋषियों ने मुझसे पूछा कि नाट्यवेद की उत्पत्ति कैसे और क्यों हुई ? भरत ने ऋषियों को उत्पत्ति का इतिहास बताया कि देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्माजी ने चारों वेदों और चारों उपवेदों का ध्यान करके, उनसे सामग्री ली और पंचमवेद के रूप में नाट्यवेद की सृष्टि की। ब्रह्मा जी की आज्ञा के अनुसार मैंने अपने सौ पुत्रों को इसकी शिक्षा दी। श्रृंगार रस के प्रयोग के लिए इसमें स्त्रियों की कमी थी। ब्रह्मा जी ने २४ अप्सरायें दीं। नारद जी ने गान्धर्ववेद की शिक्षा दी। भगवान शिव की आज्ञा पर तण्डु ने मुझे नृत्य की शिक्षा दी। सभी देवी-देवताओं ने हमें आशीर्वाद दिया और तभी से नाट्य की प्रतिष्ठा यज्ञ और जप के समान हो गई। इसके द्वारा मनुष्य को शुभ फल प्राप्त होता है और उसे सत्य और सदाचार की शिक्षा मिलती है।

अध्याय दो

दूसरे अध्याय में भरत बड़े, बीच के और छोटे अर्थात् ३ प्रकार के प्रेक्षागृह अर्थात् नाट्यशालायें बनाने के विधान विस्तार से समझाता है। रंगशाला बनाने से पहले भूमि और मिट्टी की परीक्षा तथा भूमि साफ करने के नियम बताता है। नाप के लिए वह हाथ या डण्डे का नाप तय करता है। कई तरह के नक्शे बताता है, तथा रंग-मंच और दर्शकों के बैठने का विधान समझाता है। यह भी बताता है कि अमुक-अमुक नक्षत्रों में भूमिपूजन तथा रंगशाला बनाने का काम शुरू करना चाहिए, ध्वनि के निर्देश, छत बनाना, समतल भूमि बनाना, लकड़ी की सज्जा तथा अलग-अलग दिशाओं में देवताओं की स्थापना के निर्देश देता है।

अध्याय तीन

तीसरे अध्याय में वह रंगमंच के ४५ देवताओं की चर्चा करता है, देवताओं के पूजन की सामग्री और विधि विधान पर विस्तार से प्रकाश डालता है। नाट्यशाला की प्रतिष्ठा के लिए अन्य निर्देश भी देता है।

शास्त्रकार कहता है कि नाट्यगृह बन जाने के बाद एक सप्ताह तक ब्राह्मणों द्वारा जप कराना चाहिए। रात्रि आगमन से पूर्व स्नान आदि करके मन्त्रों से देवताओं का पूजन करना चाहिए। ब्राह्मणों को चाहिए कि वे तीन रात्रि तक उपवास रखें, तब मन्त्रोच्चार करें।

इसके पश्चात् सामग्री से होम करने की रीति समझाता है। पश्चात् शुभ-अशुभ विचार के लिए कलश-भेदन की क्रिया समझाता है। इस वर्णन में शास्त्रकार बार-बार यह चेतावनी देता है कि अग्नि भी शायद इतनी जल्दी किसी वस्तु को नहीं जला सकती, जितना जल्दी नियम रहित नाट्य का प्रयोग मनुष्य को नष्ट कर देता है।

आगे शास्त्रकार रंग-प्रदीपन की क्रिया पर आता है और कहता है कि दीपों से प्रेक्षागृह को आलोकित करने का विधान सदैव ध्यान में रखना चाहिए। वह रंग-प्रदीपन में प्रेक्षागृह के प्रत्येक भाग में प्रदीपन का निर्देश देता है। पूजन-विधान में वह मन्त्रोच्चार के समय ४५ देवताओं की पूजा के अलावा राजा तथा प्रजा के कल्याण की कामना भी करता है।

अध्याय चार

चौथे अध्याय का सम्बन्ध नृत्य की शिक्षा से है। वह पुराना इतिहास बताता है कि हमने एक बार ब्रह्मा जी के आदेश पर भगवान शंकर के सामने '**त्रिपुरदाह**' और '**अमृतमंथन**' नामक दो प्रदर्शन प्रस्तुत किए थे। शंकर जी ने देखकर कहा कि ये प्रयोग शुद्ध हैं, इन्हें चित्र प्रयोग बनाना है तो इनमें नृत्य सम्मिलित करो। भगवान शंकर ने अपने प्रिय शिष्य तण्डु को निर्देश दिया। उन्होंने हमको नृत्य की शिक्षा दी। नृत्य-शिक्षा हेतु हमें सबसे पहले १०८ मुद्राओं का अभ्यास कराया गया। इन्हें शास्त्र में '**करण**' कहा गया है। करणों के संयोग से **अंगहार** बनते हैं। हमें बाद में ३२ अंगहार सिखाये गये।इस प्रकार हमने नृत्त और नृत्य की शिक्षा लेकर उसे नाट्य में जोड़ा।

अध्याय पाँच

पाँचवें अध्याय में भरत ने पूर्वरंग के विधान का विस्तार से विवेचन किया है। पूर्वरंग प्रदर्शन से पूर्व तथा प्रदर्शन के आरम्भ की क्रियाओं का

ब्यौरा प्रस्तुत करता है। वाद्य-वादकों के बैठने का स्थान मंच के किस ओर रखना चाहिए। वाद्य-वादकों तथा गायक-गायिकाओं को आगे पीछे किस प्रकार बैठना चाहिए। वाद्यों को मिलाने का क्रम क्या होना चाहिए। प्रदर्शन प्रारम्भ करते समय किस विधान से तथा किन पात्रों से मंच पर मंगलाचरण कराना चाहिए। नृत्य पहले प्रारम्भ करना चाहिए। नर्तकी को पुष्पांजलि के साथ मंच पर किस प्रकार प्रवेश करना चाहिए। बाद में अन्य नर्तकियों के दल को किस प्रकार नृत्य करना चाहिए। नृत्य के साथ गीत मिलाकर उसे नृत्य कैसे और कब बनाना चाहिए। विदूषक आदि को मंच पर कब और किस प्रकार आकर नाटक के कथानक की भूमिका बाँधनी चाहिए आदि-आदि का विवरण इसमें दिया गया है।

अध्याय छः

छटवें अध्याय में भरत रस की चर्चा करता है। वह नाटक में श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, तथा अद्‌भुत नामक आठ रस बताता है। रसों के देवताओं का परिचय देता है, रसों के रंग बताता है। प्रत्येक रस के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डालता है। उस रस से सम्बन्धित उसके छोटे से छोटे अंग का विवेचन करता है और बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से यह बताता है कि रस मानसिक आनन्द देने वाली वस्तु है। रसों से भावों का सम्बन्ध भी स्पष्ट किया गया है और रस तथा भावों के परस्पर सम्बन्ध से रसानुभूति की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है।

अध्याय सात

सातवें अध्याय में भावों का विस्तार से विवेचन किया गया है, भावों के पाँच प्रकारों का विवेचन किया गया है। आठ स्थायी भावों में रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय नामक भावों के हृदय में उदय होने के कारणों का विवेचन किया गया है। तैंतीस व्यभिचारी भावों में निर्वेद, ग्लानि से लेकर त्रास और वितर्क तक के भावों का विवेचन किया गया है। आठ सात्त्विक भावों में पसीना आना, जड़ हो जाना, कांपने लगना, आँसू आना, मुख का रंग बदल जाना, रोमांच हो जाना, गला रुँध जाना तथा मूर्च्छित होना आदि का विवेचन किया गया है। इन भावों के प्रयोग करने की

विधि पर प्रकाश डाला गया है तथा विभिन्न रसों में प्रयोग होनेवाले भावो का विवेचन किया गया है।

अध्याय आठ

आठवें अध्याय से अभिनय-शिक्षा का क्रम प्रारम्भ होता है। अभिनय के आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक नामक चार भेद बताकर इन चारों की शाखा-प्रशाखायें बाँटता जाता है और उनके प्रयोग की विधियों के निर्देश देता है। आंगिक अर्थात् शरीर-संचालन की विधियाँ बताते हुए वह पहले शरीर को अंगों-उपांगों में बाँटता है, पश्चात् सिर, भौंह, पुतली, पलक, नाक, मुँह, ठोड़ी, हाथ, बगल, पेट, कमर, जंघा तथा तलवे आदि के संचालन की सैंकड़ों विधियाँ बताता है। इसी अध्याय में वह ३६ प्रकार की दृष्टियाँ बनाने की शिक्षा देता है और देखने के ८ प्रकार समझाता है।

इस अध्याय में भरत ने शरीर के बड़े से बड़े और छोटे से छोटे अंगों के संचालन की विधियाँ तथा उनके प्रयोगों की विस्तृत शिक्षा दी है। उसकी नजर इतनी बारीक है कि वह पुतलियों तथा पलकों के चलाने के साथ-साथ भृकुटि और आँख के तारे के संचालन की विधियाँ भी विस्तार से बताता है।

अध्याय नौ

नवें अध्याय में वह ६४ प्रकार के हाथ की मुद्रायें बनाने की शिक्षा देता है। हाथों की मुद्राओं में वह एक हाथ की २४ मुद्रायें, दोनों हाथों की १३ मुद्रायें तथा नृत्त हस्त की २७ मुद्रायें बताता है। भरत इन्हें असंयुत-हस्त, संयुतहस्त तथा नृत्त हस्त कहता है। प्रत्येक मुद्रा का वह नामकरण करता है और उसके प्रयोग के स्थान और प्रसंग बताता है। इसके बाद वह १० प्रकार की अंगुली-संचालन तथा ४ प्रकार की कलाई-संचालन की विधियाँ बताता है। आगे वह छाती चलाने की, बगल चलाने की, पेट चलाने की, कमर चलाने की, ऊरू चलाने की, जंघा चलाने की तथा पाँव चलाने की अनेक विधियों और उनके उचित प्रयोग के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन करता है। आंगिक शिक्षा का यह विधान योग के आसनों की भाँति है। शरीर के

छोटे-छोटे भाग को वह योगासनों की शिक्षा के द्वारा अभ्यास कराकर अभिनय के लिए तैयार कराता है।

अध्याय दस

दसवें अध्याय में वह चारियों के बारे में बताता है। मंच पर विशेष प्रकार से संगीत और ताल के साथ चलने की क्रिया का नाम चारी है। यह चलना भी कोई साधारण नहीं है, चारियों की रचना में करण, खण्ड तथा मण्डलों का प्रयोग होता है। वह चाहता है कि उसका कलाकार मंच पर चाहे एक पाँव ही चले, किन्तु उसके चलने में कलात्मक सौन्दर्य होना चाहिए। इसलिए वह इसके साथ लय और ताल को जोड़ता है। वह १६ प्रकार की आकाशचारियों तथा १६ प्रकार की भूमिचारियों का विस्तार से वर्णन करता है। इसी प्रसंग में वह धनुष तथा अन्य शस्त्रों को अभिनय में चलाने की विधियाँ बताता है। अन्त में व्यायाम के नियम, आहार तथा वर्जनायें बताता है कि व्यायाम करने वालों को इन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

अध्याय ग्यारह

ग्यारहवें अध्याय में वह मंच पर घूमने तथा मण्डलाकार प्रस्तुति के नियम बताता है। इस प्रसंग में सबसे पहले वह दस प्रकार के आकाशमण्डल तथा दस प्रकार के भूमि मण्डलों के विधान समझाता है। इन मण्डलों को बनाने के लिए नृत्त के किस करण का, किस हस्तक का,किस पाद का तथा किस कटि आदि का प्रयोग किया जाता है, इस पर प्रकाश डालता है।

अध्याय बारह

बारहवें अध्याय में पात्रों को शिक्षा देता है कि मंच पर प्रवेश किस प्रकार करना चाहिए। पांवों को उठाकर किस प्रकार,किस गति से भूमि पर लाना चाहिए। चलने के समय लय कौन सी प्रयोग करनी चाहिए। उत्तम प्रकृति के, मध्यम प्रकृति के तथा अधम प्रकृति के लोगों को मंच पर किस प्रकार चलना चाहिए। पश्चात् यह बताता है कि दिन में तथा रात में चलने में क्या अन्तर रखना चाहिए। राजा की चाल, ज्वर से पीड़ित आदमी की चाल, दुखी व्यक्ति की चाल, विदूषक की चाल, सर्दी से ठिठुरते हुए की

चाल, वर्षा में भीगते हुए की चाल, भयभीत व्यक्तियों की चाल, जल में तैरने की चाल, रथ की चाल, आकाश में उड़ने की चाल, वृद्ध व्यक्तियों की चाल, लंगड़े की चाल, बालक की चाल, स्त्रियों की चाल, नशे में मस्त व्यक्ति की चाल, प्रेमी-प्रेमिका के मिलने की चाल, रोगी की चाल, घोड़े की चाल, हाथी की चाल, सर्प की चाल, शेर की चाल आदि का विशद् वर्णन इस सन्दर्भ में किया गया है। मंच पर परिक्रमा करने से स्थान परिवर्तन के नियम बताये गये हैं। पश्चात् सोने के प्रकार बताये गये हैं। स्वस्थ आदमी को, रोगी को, बच्चों को, थके हुए आदमी को किस प्रकार सोना चाहिए। अन्त में विभिन्न लोगों के बैठने के आसनों का वर्णन है। राजा, ऋषि, गुरु, मन्त्री, रानी, कुमार, सेनापति, दूत तथा वेश्या आदि को सोने के, चाँदी के, लकड़ी के. रेशम के ,रुई के, मृगछाल के, बैंत आदि के आसनों का विधान समझाया गया है।

अध्याय तेरह

तेरहवें अध्याय का शीर्षक कक्षा-विभाग है, लेकिन इसमें भरत ने रंगकर्म के अनेक सार्थक पक्षों की शिक्षा दी है। मंच की पूर्व, पश्चिम दिशायें निर्धारित करके पात्रों को प्रवेश-नियम बताये हैं। जो पात्र मंच पर बाद में प्रवेश करता है, उसे बाहर से आया हुआ समझने का नियम स्पष्ट किया है। मंच को कक्षों में विभाजित किया गया है और विभिन्न कक्षों के नामकरण दिशाओं के आधार पर किए गये हैं। आगे इसी अध्याय में पात्रों को निर्देश दिया गया है कि भूमिका करते समय क्षेत्र विशेष की प्रवृत्तियों में आवन्ती, पांचाली, औद्रमागधी तथा दाक्षिणात्या के निवासियों में स्त्री और पुरुषों के रहन-सहन, वेश भूषा, बोल-चाल तथा स्वभाव को ध्यान में रखना चाहिए और निर्देश दिया है कि जिस क्षेत्र के पात्र की भूमिका करनी हो उस क्षेत्र की प्रवृत्ति का ध्यान भूमिका करने वाले को अवश्य रखना चाहिए। अन्त में प्रयोग के सुकुमार और आविद्ध नामक दो रूपों का सम्बन्ध नाट्यधर्मी और लोकधर्मी परम्पराओं से जोड़कर बताया गया है कि सांकेतिक अभिनय की प्रणाली नाट्यधर्मी कहलाती है और उपकरण तथा सामग्री के साथ किया जाने वाला अभिनय लोक-धर्मी परम्परा से सम्बन्धित है।

अध्याय चौदह

चौदहवें अध्याय का शीर्षक वागाभिनय है। इसमें वाणी के अभिनय से सम्बन्धित छन्द-विधान पर प्रकाश डाला गया है। इसमें सर्वप्रथम, संस्कृत पाठ के नियमों के अन्तर्गत अक्षरों के रूप, उनके उच्चारण के स्थल, उनकी घोष और अघोष ध्वनियाँ, शब्द के लक्षण, व्याकरण के नियम, चूर्णपद तथा निबद्धपद का अन्तर बताते हुए भरत ने अक्षरों के मिलाने से विभिन्न प्रकार के छन्द बनाने के नियम बताये हैं। अनुष्टुप, गायत्री, जगती, शक्करी आदि के भेदोपभेदों पर प्रकाश डालते हुए गुरु, लघु वर्णों से ८ प्रकार के त्रिकों को स्पष्ट किया है और मकार, जकार, भकार आदि नामक त्रिकों से समवृत्त, विषमवृत्त तथा अर्ध समवृत्तों के रचना-विधान पर प्रकाश डाला है।

अध्याय पन्द्रह

पन्द्रहवें अध्याय का शीर्षक वृत्त-लक्षण है। इसमें विभिन्न प्रकार के वृत्तों से बनने वाले तनुमध्या, मकरशीर्षा, मालिनी, उद्धता, भ्रमरमाला, सिंहलेखा, मत्तचेष्टित, विद्युन्माला, आदि नामक ६५ प्रकार के छन्दों की रचना करने के नियम बताये हैं। साथ ही प्रत्येक छन्द का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। अन्त में आर्या नामक छन्द-रचना के यति के नियमों पर प्रकाश डालते हुए आर्या के पथ्या, विपुला, चपला, मुखचपला तथा जघन-चपला नामक भेदों के प्रस्तार के नियमों का विस्तार से विवेचन किया है।

अध्याय सोलह

सोलहवें अध्याय का शीर्षक अलंकार-लक्षण है। इसमें भरत ने काव्य के विभिन्न अंगों का विवेचन किया है। सर्वप्रथम काव्य के अक्षरसंघात, शोभा, अभिमान, गुण कीर्तन आदि ३६ लक्षणों का विवेचन किया है। आगे काव्य के उपमा, दीपक, रूपक, यमक आदि अलंकारों के लक्षण बताये हैं। काव्य-दोषों के अन्तर्गत गूढ़ार्थ, अर्थहीन, एकार्थ आदि नामक १० दोषों का वर्णन किया है। तत्पश्चात् काव्य के प्रसाद, समाधि, माधुर्य आदि १० गुणों का विवेचन किया है। रसों के अनुकूल काव्य-रचना के लक्षणों पर प्रकाश

डाला है। अन्त में रचनाकारों को निर्देश दिया है कि नाट्य के कथानक में मृदु और ललित शब्दों का प्रयोग करना चाहिए ताकि सबकी समझ में सरलता से आ जाये और दर्शक उसका आनन्द ले सकें।

अध्याय सत्रह

सत्रहवें अध्याय का शीर्षक भाषा-लक्षण है। इसमें भरत ने सबसे पहले प्राकृत भाषा के लक्षणों पर प्रकाश डाला है। शब्द के शुद्ध, देशज और विभ्रष्ट रूप समझाये हैं। असंयुक्त अक्षरों के भ्रष्ट रूपों के नियम बताये हैं। भाषा के अतिभाषा, जाति भाषा आदि चार रूप बताये हैं। नायक आदि द्वारा संस्कृत तथा छोटे पात्रों द्वारा प्राकृत भाषा बोलने की विधि पर प्रकाश डाला है। स्त्रियों, गणिकाओं, सेवकों, ब्राह्मणों, आदि द्वारा मागधी, शूरसेनी, आवन्ती,प्राच्या आदि ७ प्रकार की भाषाओं के प्रयोग समझाये हैं। यह भी स्पष्ट किया गया है कि विभिन्न क्षेत्रों के उच्चारण में नकारबहुल, चकारबहुल, उकारबहुल, ओकारबहुल प्रवृत्तियाँ हुआ करती हैं। पात्रों द्वारा किसको किस प्रकार सम्बोधित किया जाता है, इस पर प्रकाश डाला है। काकु-भेद समझाते हुए रसों में सात स्वरों का प्रयोग समझाया है। अन्त में ध्वनि के अलंकार बताये हैं, जिनसे बोलने में सुन्दरता आती है। इसी प्रसंग में विरामादि के स्थान समझाये हैं।

अध्याय अट्ठारह

अट्ठारहवें अध्याय का शीर्षक दशरूप लक्षण है। इसमें प्रदर्शन-प्रयोग की दस शैलियों के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इन शैलियों के नाम नाटक, प्रकरण, समवकार, व्यायोग, डिम, भाण, प्रहसन, ईहामृग तथा वीथी आदि हैं। इनमें किस रूप में कौन सी कथा तथा कौन सा पात्र प्रमुख होते हैं, कौन सी वृत्तियाँ प्रयोग में आती हैं, कौन से रस प्रमुख होते हैं आदि का विस्तार से वर्णन है। अंक की रचना, अंक की विषय-वस्तु, अंक समाप्त करने के नियमों का भी वर्णन किया गया है। अंक-परिवर्तन के लिए ५ प्रकार के अर्थोपक्षेप बताये गये हैं। साथ ही प्रवेशक और विषकम्भक के प्रयोग के नियम बताये गये हैं। सभी के लक्षणों का ब्यौरा देते हुए यह बताया गया है कि एक अंक में केवल एक माह की कथा दिखाई जानी चाहिए।

अधिक समय बीता हुआ दिखाने के लिए प्रवेशक या विषकम्भक का अमुक प्रकार प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार दस रूपों में किस पात्र की प्रधानता रहती है। वीथी के १३ अंगों की चर्चा की गई है। इस प्रकार १० और १३ दोनों मिलाकर प्रस्तुतिकरण की २३ शैलियाँ इस अध्याय में स्पष्ट की गई हैं।

अध्याय उन्नीस

उन्नीसवाँ अध्याय भरत ने इतिवृत्त-रचना के नियमों पर लिखा है। इतिवृत्त का अर्थ है कथानक। इस अध्याय में भरत कथानक लिखने के नियम बताता है। वह कहता है कि कथा में मूल कथा होती है, जिसे आधिकारिक कहा जाता है और दूसरी सहायक कथा, जिसे प्रासंगिक कहा जाता है। कथा में प्रारम्भ से अन्त तक जो कार्य चलता है, उसमें पाँच अवस्थायें होती हैं, साथ ही कथा को जोड़ने वाली पाँच सन्धियाँ होती हैं और पाँच अर्थ प्रकृतियाँ होती हैं, जो कथा उद्देश्यपूर्ण अर्थ को स्पष्ट करती हुई आगे बढ़ती हैं। इसके बाद वह कथा के प्रसंगों और प्रयोजनों को जोड़ने वाली सन्धियों के छोटे-छोटे अंगों और अन्तरों की व्याख्या करता है। सन्धियों के वह २१ अंग तथा ६४ अन्तर बताता है। वह इसी अध्याय में विषकम्भ, चूलिका, प्रवेशक, अंकावतार, अंकमुख आदि के प्रयोग के स्थान बताता है। पश्चात् लास्य के अंगों की चर्चा करते हुए गीत-प्रस्तुति के विधान पर प्रकाश डालता है। अन्त में लोक के अनुसार नाट्य-प्रस्तुति के विधान की चर्चा करता है।

अध्याय बीस

बीसवें अध्याय में वृत्तियों के लक्षणों की चर्चा है। वृत्तियों के द्वारा वह यह स्पष्ट करता है कि प्रयोग में बोलने की ४ वृत्तियाँ अर्थात् शैलियाँ हैं। उनके नाम भारती, आरभटी, कैशिकी और सात्त्वती हैं। अर्थात् यह बताता है कि प्रस्तुति करने वाले प्राचीन चार वर्गों की वाचन-शैलियाँ कैसी थी। उनके कितने भेद और उपभेद थे तथा उनका प्रयोग अभिनय में स्त्री और पुरुष पात्रों को किस प्रकार करना चाहिए।

अध्याय इक्कीस

इक्कीसवें अध्याय का नाम आहार्य अभिनय है। इसका अर्थ है

वेशभूषा, मुखसज्जा तथा मंच-सज्जा। वह इन तीनों पक्षों पर विस्तार से चर्चा करता है। एक-एक अंग के भेद और उपभेद बताता चलता है और पाठकों को चकित कर देता है। इसमें भरत नेपथ्य और मंच से सम्बन्धित सभी बातों पर विचार करता है। वह पुष्प और मालाओं के प्रयोग की ५ विधियाँ बताता है। आभूषणों के चार भेद करके, सैंकड़ों प्रकार के आभूषणों के सज्जा-विधान पर प्रकाश डालता है। मंच पर हल्के और नकली आभूषण धारण करने का निर्देश देता है। ताकि पात्र को बोझ का अनुभव न हो और आभूषण खो जाएं तो हानि न हो। वस्त्रों के तीन रूप बताता है। सात्विक, मध्यम और तड़क भड़क वाले। मुख सज्जा के लिए प्रारम्भिक ४ रंगों के मिलान से तरह-तरह के मुख-लेप बनाने की विधियाँ समझाता है। काले, सफेद, मिश्रित और भूरे चार प्रकार के बालों से दाढ़ी, मूँछें और जटा आदि बनाने की विधियाँ बताता है। मुकुटों के ३ भेद करके माथे के मुकुट, किरीट आदि तथा पीछे और बगल के मुकुट बनाने की विधि बताता है। लम्बे बाल, जटा, छोटे बाल, बनाने के बाद मुखौटे बनाने की शिक्षा देता है। इसी अध्याय में वह जर्जर ध्वज के लक्षण तथा उसे बनाने की विधि बताता है। वह मुकुट, मुखौटे आदि बनाने के लिए बेल की छाल, टाट, कपड़ा, सरकण्डे, लाख, अभ्रक, मिट्टी आदि के प्रयोग की विधियाँ भी समझाता है। साथ ही मंच के नकली उपकरण और शस्त्र आदि बनाने के नियम बताता है।

अध्याय बाईस

बाईसवें अध्याय का नाम सामान्य अभिनय है। कहने को यह सामान्य अभिनय है किन्तु; इसमें भरत ने अभिनय के बारीक से बारीक और कठिन से कठिन पक्ष का विवेचन किया है। सबसे पहले वह इस प्रसंग में कहता है कि अभिनय में मनोयोग का होना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मनोयोग वाला अभिनय श्रेष्ठ, कम मनोयोग वाला मध्यम और बिना मनोयोग वाला निकृष्ट कोटि का होता है। वह अभिनय को प्रभावशील बनाने के लिए स्त्री और पुरुषों के अभिनय-अलंकारों की चर्चा करता है। ये अलंकार प्रकृति और स्वभाव से सम्बन्धित हैं और बहुत सूक्ष्म हैं। स्त्रियों के अलंकारों का विवेचन करते हुए वह कहता है कि शरीर में स्वाभाविक रूप से सत्त्व

विद्यमान रहता है। प्रसंग आने पर सत्त्व से मन में भाव उत्पन्न होते हैं, भाव से हाव और हाव से हेला, जो स्त्री की चेष्टाओं द्वारा व्यक्त होते हैं। वह इसी प्रकार पुरुषों के स्वभाव को ध्यान में रखते हुए पुरुषों के अलंकार, जैसे शोभा, विलास, माधुर्य, स्थिरता, गम्भीरता, उदारता, धैर्य आदि के लक्षण और उनके अभिनय में प्रयोग बताता है। आगे वह अभिनय करते समय अन्य पात्र के भावों से सम्बन्ध बनाने वाली क्रियाओं की चर्चा करता है। अभिनय में संकेतों तथा प्रतीकों से भावों की अभिव्यक्ति के नियम बताता है। बोलने के १२ प्रकारों के निर्देश देता है। पश्चात् ५ प्रकार के तन्मात्रों रूप, रस, स्पर्श, गन्ध आदि को व्यक्त करने के नियम बताता है। आगे वह स्त्रियों के २२ प्रकार के शीलों की चर्चा करता है, जिनसे स्त्रियों के लक्षणों तथा स्वभाव पर प्रकाश डालता है। इसी अध्याय में वह काम-शास्त्र के अनुसार स्त्रियों के साथ भोग की अनेक विधियाँ बताता है। नायिकाओं का अभिनय करने के लिए आठ प्रकार की नायिकाओं के लक्षण बताता है। कुलीन स्त्री और वेश्या का भेद समझाता है, उनके आचरण और व्यवहार के नियम समझाता है। कामातुर स्त्रियों की मनोदशाओं के रूप स्पष्ट करता है। छिपकर भोग करने का विधान भी समझाता है। दूती के कार्य और लक्षण स्पष्ट करता है। स्त्रियों के काम की दशायें समझाता है। साथ ही प्रेमिका को प्रेमी के स्वभाव को देखकर उसे क्या कहकर सम्बोधित करना चाहिए, उसके अनेक नाम सुझाता है। प्रेमिका को प्रेमी से किस समय कैसी वार्ता और उसे प्रसन्न करने को कैसा श्रृंगार तथा व्यवहार करना चाहिए, इस पर प्रकाश डालता है।

अध्याय तेईस

तेईसवें अध्याय का नाम वैशिक लक्षण है। इसमें भी भरत ने स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है। पहले वैशिक पुरुष के २० गुण बताये हैं। यदि मनुष्य में ये गुण नहीं हैं तो वह स्त्रियों को वश में नहीं कर सकता। अनुरक्ता, विरक्ता, मदनाश्रया स्त्रियों की मनोदशाओं तथा लक्षणों पर प्रकाश डालता है। पश्चात् स्त्री के यौवन की ५ विभिन्न दशाओं का वर्णन किया है कि प्रथम यौवन के समय स्त्रियों के क्या लक्षण होते हैं, द्वितीय यौवन की दशा में कैसा आचरण करने लगती है

आदि-आदि। स्त्रियों की उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा नामक तीन प्रकृतियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इसी प्रकार पुरुष की ५ प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन किया है। पूरे अध्याय में स्त्री और पुरुष के मध्य घटित होने वाले छोटे से छोटे व्यवहार का अध्याय में विस्तार से विवेचन किया गया है।

अध्याय चौबीस

चौबीसवें अध्याय का नाम प्रकृति लक्षण है। इसमें भरत ने सर्वप्रथम उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के लक्षणों पर प्रकाश डाला है। पश्चात् नपुंसक तथा वनवासी जातियों,शिकारी आदि की प्रकृति का स्वरूप स्पष्ट किया है। आगे पुरुषों के गुण और प्रकृति के अनुसार चार प्रकार के नायकों के लक्षण बताये हैं। इसी प्रसंग में आगे चार प्रकार के विदूषकों के लक्षणों का वर्णन किया गया है। नायक और नायिका के प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए भरत ने अभिनय के लिए स्त्रियों के विभिन्न रूपों का वर्णन किया है।साथ ही सब लक्षण बताये हैं। इसी अध्याय में राजा, सचिव, प्राडविवाक आदि पात्रों के लक्षणों पर भी प्रकाश डाला गया है।

अध्याय पच्चीस

पच्चीसवें अध्याय का नाम चित्राभिनय है। इसमें भरत ने अभिनय के लिए प्रतीकों की विशद् योजना की है। वह प्रतीकों के द्वारा चन्द्रमा की चाँदनी दिखाने की विधि बताता है, सूर्य की प्रखरता, छाया, पेड़, जंगल, सरोवर, गृह, नक्षत्र, विभिन्न ऋतुएँ,जैसे-ग्रीष्म, शिशिर, वसन्त, वर्षा, पर्वत, नदियाँ, आकाश, पाताल आदि दिखाने के लिए प्रतीकों की योजना करता है। वह पृथ्वी से सम्बन्धित,आकाश से सम्बन्धित, पशु-पक्षियों से सम्बन्धित, पेड़-पौधों से सम्बन्धित, प्रतीकों के निर्देश देता है। लाखों और करोड़ों की संख्या दिखाने के लिए भी वह हाथों के सांकेतिक प्रतीक बताता है। तोता, मैना, हाथी, बैल, शेर के लिए वह प्रतीक निर्धारित करके उनके भाषण की विधि बताता है। इसी सन्दर्भ में वह जनान्तिक और अपवारित विधियों पर प्रकाश डालता है। बाद में मरणकाल की वाणी के लक्षण, बालक की वाणी,वृद्ध की वाणी तथा रोगी व्यक्ति की वाणी का अन्तर समझाता

है। आगे वह विषवेग की अवस्थाओं का वर्णन करता है और निर्देश देता है कि अभिनय करते समय इन अवस्थाओं के अनुसार ही पात्र को अभिनय करना चाहिए।

अध्याय छब्बीस

छब्बीसवें अध्याय का नाम प्रकृति-लक्षण है। इसमें भरत ने मनुष्य की नहीं, अभिनय करने वाले पात्र की अभिनय-प्रकृति का विवेचन किया है। बताया गया है कि पात्र की अनुरूपा, विरूपा तथा रूपानुरूपा नामक ३ प्रकार की प्रकृति हुआ करती है। पात्र को चूँकि कभी सज्जन व्यक्ति की, कभी राक्षस की, कभी गधा, ऊँट तथा हाथी आदि की भूमिका करनी पड़ती है। अतः पात्र की प्रवृत्ति के रूप बदल जाते हैं। पशुओं की भूमिका के लिए मुखौटेलगाने पड़ते हैं, राक्षस आदि के लिए अनेक भुजायें, मुख आदि लगाने पड़ते हैं। पात्र की सहज भूमिका अनुरूपा, विपरीत स्वभाव की भूमिका विरूपा तथा पशु आदि की भूमिका को रूपानुरूपा प्रकृति कहा गया है। भरत कहता है कि पात्र जो भूमिका करता हो, उसे स्वभाव को त्यागकर परभाव में प्रवेश करना चाहिए। मंच पर प्रवेश से पूर्व पात्र को चाहिए कि वह परपात्र का मानसिक स्मरण करे और उसी की वाणी तथा आंगिक चेष्टाओं को सम्पन्न करे। आगे वह प्रयोग के सुकुमार और आबिद्ध नामक दो भेद करता है। अन्त में आचार्य के छः गुण तथा शिष्य के छः गुण बताता है।

अध्याय सत्ताईस

सत्ताईसवें अध्याय का नाम सिद्धिव्यंजक लक्षण है। इसमें भरत स्पष्ट करता है कि नाटक वस्तुतः नाटक नहीं प्रयोग है। वह शास्त्र में अन्य स्थानों पर भी नाट्य-प्रदर्शन के लिए प्रयोग शब्द का ही इस्तेमाल करता है। उसमें कहता है कि दैवीय और मानुषी दो प्रकार की सिद्धियाँ हुआ करती हैं। सिद्धियों का अर्थ है प्रदर्शन की सफलता। कभी-कभी दैवीय प्रकोप से बना बनाया काम चौपट हो जाता है। मंच पर अचानक चींटियाँ निकल आवें, पतंगे पैदा हो जायें अथवा दर्शकों में कोई पशु प्रवेश कर जाए। मानुषी सिद्धियाँ शरीरी, वचन की तथा रस के अनुकूल गायनवादन की होती हैं।

आगे वह आत्मसमुत्थ तथा परसमुत्थ नामक दो प्रकार की घातों की चर्चा करता है। संवाद भूल जाना, ध्यान भंग हो जाना, असावधानी के कारण चोट लग जाना, आत्मसमुत्थ तथा दूसरे पात्र द्वारा गलत संवाद बोलकर पात्र को भटकाना, किसी ईर्ष्यावश उसके काम में बाधा डालना परसमुत्थ घात कहलाती है। इसके बाद वह दस प्रकार के प्राश्निकों की नियुक्ति का निर्देश देता हे। किसी विषय पर विवाद होने पर प्राश्निक से निर्णय लेना चाहिए।प्राश्निकों में वह याज्ञिक से लेकर अस्त्रचालक, सेवक और वेश्या तक को प्राश्निक के रूप में नियुक्त करने का निर्देश देता है। वह दर्शकों के लक्षण भी शास्त्र में बताता है।अन्त में वह प्रयोग प्रस्तुत करने के समय बताता है कि दिन तथा रात्रि में प्रदर्शन किस समय करने चाहिए।

अध्याय अट्ठाईस

अट्ठाईसवें अध्याय का नाम आतोद्य-विधान है। यहाँ नाट्यशास्त्र में गान्धर्व विद्या शब्द का प्रयोग किया गया है। नाट्यशास्त्र के रचनाकाल के समय तक संगीत शब्द शायद प्रचलित नहीं हुआ था। इस प्रसंग में वह सबसे पहले आतोद्य अर्थात् वाद्य-यन्त्रों के बारे में कहते हैं कि वाद्य चार प्रकार के होते हैं। इन्हें तत, अवनद्ध, घन तथा सुषिर वाद्य कहा गया है। ततवाद्य या तन्त्री वाद्य वे होते हैं,जिनमें तार या तांत आदि से आवाज निकाली जाती हे। खाल से मढ़े हुए सारे वाद्य अवनद्ध कहलाते हैं, धातु के बने मंजीरे, झाँझ आदि सारे वाद्य घन कहलाते हैं और फूँक से बजने वाले सारे वाद्य सुषिर कहलाते हैं। इनके तीन प्रकार के प्रयोग बताकर भरत कुतप-विन्यास की चर्चा करता है कि प्रयोग के समय वाद्य-वादकों तथा गायक-गायिकाओं को किस प्रकार बैठना चाहिए। शास्त्रकार इसके बाद गान्धर्वविद्या के प्रमुख लक्षणों पर प्रकाश डालता है। सात स्वर, मूर्च्छनाएँ तथा उनकी जातियों का विस्तार से विवेचन करता है।

अध्याय उन्तीस

उन्तीसवें अध्याय का नाम रस-जाति लक्षण है। इसमें वह रस के अनुकूल गान्धर्व की जातियों का विवेचन करता है। गान्धर्व के वर्ण और अलंकारों पर विस्तार से प्रकाश डालता है। गीतों के अलग-अलग लक्षण

और उनका प्रयोग बतलाता है। पश्चात् गान्धर्व से सम्बन्धित चार प्रकार की धातुओं की चर्चा करता हैं। इसके बाद आश्रावण अर्थात् वाद्य आदि मिलाने के नियम बताता है। तार के वाद्य तथा खाल के वाद्य मिलाने के नियम बताता हैं। अन्त में विपंची अर्थात वीणा आदि के प्रयोग के नियमों का निर्देश करता है।

अध्याय तीस

तीसवें अध्याय का नाम सुषिर लक्षण है। इसमें सुषिर अर्थात् फूँक से बजनेवाले वाद्य यन्त्रों के लक्षणों पर प्रकाश डालता है। सुषिर वाद्यों में वंशी की रचना तथा उसे बजाने के लिए अंगुली-संचालन की विधियाँ बताता है। अन्त में वंशी से निकलने वाले स्वरों का विधान स्पष्ट करता है।

अध्याय इकत्तीस

इकत्तीसवें अध्याय का नाम तालाध्याय है। इसमें वह ताल से सम्बन्धित छोटे से छोटे अंग पर प्रकाश डालते हैं। ताल और लय का सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं। ताल की उत्पत्ति बताते हुए कहते हैं कि दो से विभाजित तथा तीन से विभाजित होने वाले ताल के दो मुख्य रूप हैं। ताल-वादन के लिए पाँच प्रकार के हाथ चलाने का विधान,समझाते हैं। ताल के अनेक प्रकार समझाते हुए अंगुलियों को चलाने की विधि पर प्रकाश डालते हैं। आगे वह आसारित विधान, लय बढ़ाने और सम पर मिलाने के नियम समझाते हैं। कण्डिका का स्वरूप बताते हुए गीतों के अंग रूप में ताल का प्रयोग स्पष्ट करते हैं।

अध्याय बत्तीस

बत्तीसवें अध्याय का नाम ध्रुवाध्याय है। ध्रुवा के लक्षणों की चर्चा से यह अध्याय प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में ध्रुवा की जातियों का स्वरूप स्पष्ट करने के बाद ११० प्रकार के ध्रुवा-छन्दों के नाम, उनकी रचना के नियम तथा प्रत्येक छन्द का शौरसेनी में उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। आगे गान की ५ विधियों पर प्रकाश डाला गया है। ध्रुवा-प्रयोग के नियम बताये गये हैं और अन्त में ध्रुवा-गान के साथ वाद्यों के वादन तथा उनके स्थापन के विधान पर प्रकाश डाला गया है।

अध्याय तैंतीस

तैंतीसवें अध्याय का शीर्षक गुण-दोष-विचार है। इसमें गायक, गायिकाओं, तथा वाद्य-वादकों के गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। यह छोटा सा अध्याय है; किन्तु इसमें भरत ने बहुत बारीकी से गायक तथा वादकों के गुण-दोषों पर विचार किया है।

अध्याय चौंतीस

चौंतीसवें अध्याय का नाम पुष्कराध्याय है। इसमें अवनद्ध अर्थात् खाल के वाद्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पहले प्रकाश डाला गया है। अवनद्ध-वाद्य के भेदों का वर्णन है तथा त्रिपुष्कर विधि का विवेचन किया गया है। अवनद्ध-वाद्यों को बजाने की ४ प्राचीन विधियों का विवेचन है। अवनद्ध को पुष्कर क्यों कहा गया है, इसका विवेचन करते हुए उसके वादन के ३ प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। वादन से सम्बन्धित करण और वादन की १८ विधियों के नियम बताये गये हैं। सुन्दर वाद्य के लक्षण बताने के बाद वाद्य पर चढ़ाने के लिए अच्छे और खराब चमड़े के लक्षण बताये गये हैं। अन्त में अवनद्ध-वाद्य बजानेवाले के गुण बताये गये हैं।

अध्याय पैंतीस

पैंतीसवें अध्याय का नाम भूमिका-विकल्पन है। इसमें मंच पर सामने तथा नेपथ्य में कार्य करने वाले लगभग २० कर्मियों के परिचय दिए गये हैं। इनमें बढ़ई, धोबी, रूप-सज्जाकार, पुष्प-सज्जाकार, नायक, नायिका, विदूषक, नान्दी, कुशीलव, तौर्यत्रिक आदि के कामों का ब्यौरा और लक्षण बताये गये हैं।

अध्याय छत्तीस

छत्तीसवें अध्याय का नाम नाट्यशाप है। इसमें पुनः कथा-शैली देखने को मिलती है। जैसे पहले से पाँचवें अध्याय में कथा-शैली के द्वारा नाट्यवेद के महात्म्य का वर्णन किया गया है। ऋषि-मुनि भरत से प्रश्न करते हैं और भरतमुनि उन्हें कथा सुनाते हैं कि ऋषियों ने मुझे और मेरे पुत्रों को शाप दिया कि तुम शूद्र हो जाओ और हमें पंचनद प्रदेश से बाहर निकाल दिया

गया। हम लोग तब दक्षिण में अनार्य राजा नहुष की शरण में आकर बस गये। इसी अध्याय में भरत ने उन ऋषियों के नाम दिए हैं, जिन्होंने भरत से 'नाट्यशास्त्र' सुना था। इनमें वाल्मीकि, विश्वामित्र, वशिष्ठ, अंगिरा, पुलस्त्य, गौतम कश्यप, उशना, बृहस्पति, दुर्वासा आदि के नाम दिए गये हैं।

अध्याय सैंतीस

सैंतीसवें अध्याय का नाम गुह्यतत्त्व कथन है। इसमें भरत ने कथा द्वारा स्पष्ट किया है कि किस प्रकार हम लोग शाप-मुक्त हुए और अन्त में स्वर्गलोक को गये। यह भी कहा गया है कि मेरे बाद इस शास्त्र का कथन कोहल, वत्स, शाण्डिल्य तथा धूर्तित नामक मेरे शिष्य करेंगे। यह भी कहा गया है कि इसके देखने से जप तथा दान का फल मिलता है और दर्शकों को मोक्ष प्राप्त होता है।

यहाँ बड़ी सरलता से हमने 'नाट्यशास्त्र' के सैंतीस अध्यायों के विषयों का विवरण प्रस्तुत कर दिया है। सत्य यह है कि यह विवरण सूर्य को दीपक दिखाने जैसा है। इस शास्त्र के एक-एक श्लोक में, एक-एक सूत्र में, इतनी बारीकियाँ छिपी हुई हैं कि उन पर अलग से ग्रन्थ पर ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।

कला और साहित्य का कोई अंग ऐसा नहीं है, जिस पर इस ग्रन्थ में न लिखा गया हो। विदेश के लोग अरस्तू के **'द पोइ।तक्स'** पर गर्व करते हैं। इसलिए कि **'द पोइतिक्स'** ईसा के जन्म से लगभग ४०० वर्ष पूर्व लिखा गया था। **नाट्यशास्त्र** उससे भी हजारों साल पुराना है। साथ ही कला, काव्य और बहुत से शिल्पों की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि भारतीय ही नहीं जर्मन, फ्रैंच, अमरीकन तथा इंग्लैण्ड के विद्वानों ने भी इसका अध्ययन किया है, इस पर लिखा है और इसके महत्व को स्वीकार किया है।

इसके सैंतीस अध्यायों में भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम इतिहास : रहस्य छिपे हुए हैं। वैदिक काल से पहले की सभ्यता और कला के रूप की कालिन्दी बह रही है, भारतीय धर्म और दर्शन की कहानी सजी हुई है और

आदिम सभ्यता से आज तक के मानव समुदाय के विकास की यात्रा के विभिन्न सोपान दिखाई देते हैं।

कहा जा चुका है कि "नाट्यशास्त्र" के प्रथम पाँच और अन्तिम दो अध्यायों की लेखन-शैली अलग तरह की है। इन अध्यायों में ग्रन्थ का धार्मिक दृष्टि से महत्व स्थापित किया गया है। लगता है जब भारतीय समाज में धर्म का महत्व इतना अधिक बढ़ गया कि इसके बिना जीवन का कोई भी काम नहीं हो पाता था, तब इस ग्रन्थ को लौकिक महत्ता प्रदान करने की दृष्टि से इस वर्ग के किसी व्यक्ति ने इसे धार्मिक स्वरूप प्रदान करने की दृष्टि से इसके प्रारम्भ और अन्त में कुछ अध्याय जोड़ दिये।

एक तो इन अध्यायों की लेखन-शैली में प्रायः अनुष्टुप छन्द का प्रयोग किया है और दूसरे इनका स्वरूप ठीक पुराण की कथाओं जैसा है। इनको लिखते समय लेखक के मन में धार्मिक महत्व को प्रतिष्ठित करने की भावना इतनी प्रबल रही है कि वह इसे **यज्ञ के समान** कहता है। इसे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ही नहीं और जाने क्या-क्या फल प्रदान करने वाला घोषित करता है। एक स्थान पर तो वह यहाँ तक कह देता है कि जहाँ तक नाट्य-प्रदर्शन की ध्वनि जाती है, वहाँ तक देवता स्वयं आकर उपस्थित हो जाने हैं। वह स्नान और जप से भी अधिक फल प्रदान करने वाला नाट्य को बताता है।

इसके अलावा ग्रंथ में जितनी विषय-वस्तु बचती है, वह विशुद्ध रूप से कला और काव्य के तकनीक से सम्बन्धित है। उस तकनीक के इतने अंग और उपांग हैं, उनका विवेचन इतना सूक्ष्म और सटीक है कि छोटी से छोटी बात को देखकर भी आश्चर्य होने लगता है।

ग्रंथ में हर विषय के रहस्यों की परत पर परत खुलती जाती हैं, नये-नये तथ्य सामने आने लगते हैं और लगता है कि आधुनिक युग के विकासवादी चिन्तन की पहुँच अभी भरतों के चिन्तन से बहुत पीछे है।

इस कथन का प्रमाण पाठकों को आगे स्वयं मिल जायेगा कि भरत एक शब्द को लेकर उससे सम्बन्धित विषय-वस्तु का विस्तार कितने वैज्ञानिक रूप से करता है।

यों देखने में लगता है कि नाट्यशास्त्र भारत के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों की तरह एक कथा सुनाने वाला ग्रन्थ है, किन्तु उसका प्रारम्भिक कथा वाला भाग उसमें जोड़ा हुआ क्षेपक है। उस भाग के कारण ही ग्रन्थ के **विधि** और **शास्त्र** दो भाग हो जाते हैं। विधि-भाग पूर्णत: धार्मिक अनुष्ठान की जटिल क्रियाओं के कठोर निर्देश प्रस्तुत करता है। इन क्रियाओं में वह प्रयोग कर्त्ता को स्वेच्छा से काम करने की किंचित भी अनुमति नहीं देता साथ ही यह चेतावनी देता है कि इन क्रियाओं की उपेक्षा करने से हानि होगी।

छठवें अध्याय से शास्त्र प्रारम्भ होता है। उसके बाद शास्त्रकार प्रयोगकर्त्ताओं को स्थान-स्थान पर छूट देने लगता है कि इतना मैने बता दिया, देश-काल को देखते हुए प्रयोगकर्त्ता इसमें आगे स्वयं जोड़ लें। कहीं कहता है कि बुद्धिमान लोगों को चाहिये कि वे इसका प्रयोग अपनी समझ के अनुसार लोक को देखते हुए कर लें। यद्यपि भरत का विवेचन हर विषय में परिपूर्ण और वैज्ञानिक रूप से किया हुआ दिखाई देता है।



अध्याय दो

भरत और उनका शास्त्र

"सर्वविदित है कि भगीरथ कठोर तपस्या करके पतितपावनी गंगा को पृथ्वी पर लाये थे। भगीरथ से पूर्व उनके पूर्वज अंशुमान तथा सगर भी प्रयत्न करते रहे थे। इसी प्रकार भरत लोगों ने कठोर तप करके गायन, वादन, नर्तन की त्रिवेणी को सार्वजनिक कल्याण के लिए लोक में प्रवाहित किया। कला की इस सुधामय सरिता ने लोक-हृदय को आल्हाद और आनन्द के रस से आप्लावित कर दिया। धर्म, जाति, वर्ग तथा प्रान्त के भेदों को भूलकर सारा लोक भरतों की इस भागीरथी में आनन्द के महोत्सव मनाने लगा। भरतों ने सारे देश को सच्चे अर्थों में भावात्मक स्तर पर जोड़ा, क्योंकि भरतों की कला के स्रोत भाव और रसों से ही फूटे थे।"



वेदाध्यात्मोपपन्नं तु शब्दच्छन्दस्समन्वितम् ।
लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा ।।

२५-१२१

नाटक चाहे वेद या अध्यात्म से उत्पन्न हो, वह कितने ही सुन्दर शब्दों और छन्दों में रचा गया हो, वह तभी सफल माना जाता है जब लोक उसे स्वीकार कर लें; क्योंकि नाटक लोकपरक होता है।

कहा जा चुका है कि भरतमुनि कृत '**नाट्यशास्त्रम्**' विश्व के साहित्य की एक प्राचीनतम सम्पदा है। सैंतीस अध्यायों के इस ग्रन्थ में लगभग छः हजार श्लोक हैं। एक दृष्टि से यह कला और साहित्य का विश्व-कोश है।

'नाट्यशास्त्र' के रचनाकार का नाम भरतमुनि है। अधिकांश लोग यही समझते हैं कि प्राचीनकाल में भरतमुनि नामक किसी व्यक्ति ने **नाट्यशास्त्र** की रचना की थी।

सत्य यह है कि **नाट्यशास्त्र** का लेखक भरतमुनि कोई एक व्यक्ति नहीं था। **नाट्यशास्त्र** को न जाने कितने भरतों ने, कितने समय में लिखा था। वस्तुतः 'नाट्यशास्त्र' न तो किसी एक युग में लिखा गया था और न उसे किसी एक भरत ने लिखा था।

नाट्य के सन्दर्भ में भरत एक जातिवाचक शब्द है। नाट्यकोविद् भरतों की परम्परा ईसा के जन्म से कई हजार वर्ष पूर्व भारत में विकसित ही नहीं लोकप्रिय हो चुकी थी। भरत लोग नाट्य-विद्या के विशेषज्ञों के रूप में लोक में प्रसिद्धि पा चुके थे। ये लोग गायन, वादन, नर्तन तथा अभिनय में पारंगत होते थे। प्राचीनकाल की गुरू-शिष्य-परम्परा के अनुसार इन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी रंगकर्म की समस्त विधाओं का सर्वांगीण प्रशिक्षण दिया जाता था। यह प्रशिक्षण श्रुत और कण्ठ-परम्परा पर आधारित होता था। गायन, वादन, नर्तन तथा अभिनय का सम्बन्ध प्रयोग पक्ष से जुड़ा होता था। अतः इस क्षेत्र में श्रुतज्ञान के साथ-साथ प्रशिक्षण लेने वालों को व्यावहारिक शिक्षा लेनी पड़ती थी। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि इस विद्या का मूल

सम्बन्ध प्रयोग से था। अत: शास्त्रगत् नियम और निदेश कण्ठ करने के बाद इस विद्या के गुणी लोगों का मुख्य सम्बन्ध प्रयोगशीलता से जुड़ जाता था।

शास्त्र के नियम जीवन में एक बार याद करने के बाद शास्त्र का काम उनके लिए समाप्त हो जाता था। बाद के जीवन में सीखी हुई विद्या से ही काम चलता था। इसीलिए न उन्हें ग्रन्थ-रचना की अपेक्षा थी और न उनके संग्रह की चिन्ता, उनका ग्रन्थ उनके कण्ठ में विद्यमान रहता था।

'नाट्यशास्त्र' में अनेक उदाहरण ऐसे देखने को मिलते हैं, जिनसे भरतों की प्राचीन परम्परा का पता लगता है।

'नाट्शास्त्र' के १२ वें अध्याय में पात्रों द्वारा मंच पर चलने की विभिन्न प्रकार की गतियों का निर्देश दिया गया है। द्रुत, मध्य तथा विलम्बित लय में किस पात्र को किस प्रकार मंच पर प्रवेश करना चाहिये। इसके सम्बन्ध में शास्त्रकार ने विस्तार से नियम बताये हैं। शास्त्रकार ने देवता, मनुष्य तथा दानवों की मंच पर चलने की रीतियाँ बताई हैं। उत्तम, मध्यम, और अधम प्रकृति के पात्रों के मंच पर चलने के निर्देश दिए हैं। शोक से दुखी, हर्ष से उछलता हुआ, आवेग तथा सम्भ्रम से परेशान आदमी के चलने के नियम बताये हैं। यह भी बताया है कि बुखार से तपते आदमी की चाल कैसी होती है, बूढ़े आदमी को मंच पर कैसे चलना चाहिए और गर्मी से तपते अथवा वर्षा में भीगे हुए आदमी की चाल का अन्तर कैसा होता है। चलने की विधियाँ बताता हुआ वह श्लोक संख्या २० में कहता है कि पात्रों को अपने पाँवों का संचालन इस प्रकार करना चाहिये, जिस प्रकार प्राचीन काल से भरत लोग मंच पर पद-संचार करते रहे हैं। या फिर यह कहें कि शास्त्रकार निर्देश देता है कि भरत लोगों द्वारा प्रयोग की जाने वाली गतियों के अनुसार पाँव चलाने की विधि अनुकरणीय है।

शास्त्र के तेरहवें अध्याय में प्रवृत्तियों और वृत्तियों की चर्चा की गई है। इसमें वाचिक अभिनय से सम्बन्धित वाचनशैली को शास्त्रकार वृत्ति कहता है। इस प्रसंग में श्लोक संख्या ६६ में कहा गया है कि प्रयोग स्वेच्छा से न करके उसमें भरतों की शैली का अनुकरण करना चाहिए, क्योंकि पूर्वकाल

में भरतों द्वारा ही प्रयोग में **'कुतप'** और **'नाट्य'** प्रारम्भ किए गये थे।

'नाट्यशास्त्र' के बीसवें अध्याय में 'भारती वृत्ति' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि बोलने की जो शैली वाक् प्रधान है, जिसका प्रयोग प्रायः पुरुष करते हैं, स्त्रियों को इसका प्रयोग वर्जित है और जो मूलतः संस्कृत पाठ्ययुक्त है, उसे भारती वृत्ति कहा जाता है, क्योंकि इसका प्रयोग स्वनामधारी भरत लोग किया करते थे।

इस प्रकार शास्त्र के सत्ताईसवें अध्याय के श्लोक संख्या ७० में कहा गया है कि कभी-कभी प्रयोग के समय भरतों में शास्त्र की प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए स्पर्धा छिड़ जाया करती थी। ऐसी स्पर्धा के समय 'प्राश्निक' की नियुक्ति की जाती थी और वह अन्तिम निर्णय देता था।

शास्त्र के पैंतीसवें अध्याय में भूमिका विकल्पन के अन्तर्गत रंगकर्मियों के नाम,उनके काम और विशेषताओं का वर्णन किया गया है। इसी तालिका में भरतों की गणना भी एक रंगकर्मी के रूप में की गई है। भरत के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति समस्त प्रकार के वाद्य बजाना जानता हो, हर प्रकार की भूमिकाएँ करने में प्रवीण हो और नाट्य की समस्त विधियों का ज्ञाता हो, उसे **भरत** कहा जाता है।

भरतों की परम्परा -

शास्त्र में अनेक स्थलों पर ऐसे छन्दों को प्रस्तुत किया गया है, जिन्हें शास्त्रकार वंश-परम्परा से प्राप्त बताता है। इससे स्पष्ट है कि भरतों की परम्परा बहुत प्राचीन थी। इस बात के सैंकड़ों प्रमाण हैं कि नट-सूत्रों की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी, नट-सूत्रों को वैदिक चरणों जैसी पवित्रता प्राप्त थी। नट-सूत्र **शैलालक** ऋग्वेद का चरण स्वीकार कर लिया गया था। 'आपस्तंब' और 'श्रौत-सूत्र' में **शैलालक ब्राह्मण** का उल्लेख है।कात्यायन ने इस चरण के अध्येता छात्रों को **'शैलाली'** कहा है। काशिकाकार ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि **'शिलालिन'** ओर **'कृशाश्व'** द्वारा चरणों का जो विकास हुआ, उसे प्राचीन काल से आम्नाय की पवित्रता प्राप्त थी। आम्नाय का अर्थ उस काल में पवित्र

सम्प्रदाय था इसलिए भरत अपनी परम्परा से सम्बन्धित व्यक्ति और उनके द्वारा लिखित सामग्री को वंश-परम्परा की संज्ञा देता है। शास्त्र के सैंतीसवें अध्याय के श्लोक २३ में कहता है कि 'मुझसे बचा हुआ शास्त्र मेरे वंशज कोहल, वत्स, शाण्डिल्य तथा धूर्तित भविष्य में कहेंगे।' **भरतानां च वंशोऽयं** इन नामों का उल्लेख दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनीमतम्' में भी किया है। साथ ही हेमचन्द्र के **काव्यानुशासन** तथा **रसार्णवसुधाकर** आदि ग्रन्थों में भी इन नामों की चर्चा हुई है।

इसी प्रकार शास्त्र के प्रथम अध्याय में वह अपने सौ पुत्रों के नाम गिनाता है। यथार्थ में वे सौ पुत्र न होकर, उसके शिष्य हैं, जिन्हें भरत परम्परा का वंशज मानना चाहिये। इसी प्रकार वह अपने पूर्व आचार्यों के नाम भी विभिन्न प्रसंगों में गिनाता है।

नाट्यशास्त्र के आधार पर बाद में सैंकड़ों शताब्दियों तक अनेक ग्रन्थों की रचना होती रही। आचार्य धनंजय का '**दशरूपक**' हो अथवा रामचन्द्र-गुणचन्द्र का '**नाट्यदर्पण**'। सभी आचार्यों ने भरतों की परम्परा का उल्लेख किया है। संस्कृत के नाटक-साहित्य से सम्बन्धित अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें भरत शब्द का प्रयोग बहुवचन में देखने को मिलता है। जैसे भरतादि, भरतजन, भरतों के द्वारा भरत-वर्ग आदि।

नाट्यशास्त्र में उपलब्ध इन प्रमाणों को अन्तःसाक्ष्य की श्रेणी में रखा जायेगा। 'नाट्यशास्त्र' के अलावा अन्य ग्रन्थों में भी ऐसे प्रमाण देखने को मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि भरतों की परम्परा बहुत प्राचीन थी और भरत लोग रंगकर्म के विशेषज्ञ थे।

'**ऐतरेय ब्राह्मण**' के २-२५ में लिखा है कि 'भरत लोग सात्त्विक वृत्ति का प्रयोग करते थे और तूर्यविषयक संग्रहों का आधार ग्रहण करते थे।' उस काल में **संग्रह** वस्तुतः शास्त्र को कहते थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'ऐतरेय ब्राह्मण' की रचना से पूर्व ही भरतों की विद्या के ग्रन्थ रचे जा चुके थे, जिनके आधार पर वे लोग गायन-वादन का कार्य करते थे। '**याज्ञवल्क्यस्मृति**' के ३-१६२ में भी जीव और आत्मा का विवेचन करते हुए कहा गया है जिस प्रकार भरत लोग नाना प्रकार के रूप बदल कर

भिन्न पात्रों का अभिनय करते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी एक जीव से निकल कर अन्य जीव का रूप धारण कर लेता है।

शारदातनय कृत 'भाव प्रकाश' के छठवें अध्याय के ७१ वें श्लोक में कहा गया है कि भरत से पहले वृद्धभरत थे। उन्होंने बारह हजार श्लोकों का 'नाट्यवेदागम्' नामक ग्रन्थ लिखा था। भरत ने छः हजार श्लोकों में उसे संक्षिप्त कर 'नाट्यशास्त्र' लिख डाला। आज जब हम 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरतमुनि को ही बहुत प्राचीन मानते हैं, तब वृद्धभरत पता नहीं कितने और प्राचीन रहे होंगे? इस बात से यह अनुमान तो लगाया ही जा सकता है कि भरतों की परम्परा प्राचीन ही नहीं अत्यन्त प्राचीन रही है।

इस बारे में यह भी समझ लेना जरूरी है कि भरत लोगों को प्राचीन काल में शूद्र-वर्ग का माना जाता था। 'अमरकोश' देखें या 'मोदिनीकोश' वाचस्पत्यम्' देखें या 'शब्दकल्पद्रुम'। भरत के पर्यायवाची शब्दों में नट, जायाजीवा, धात्रीपुत्र आदि नाम गिनाये गये हैं यह उस समय की बात है, जब भारतीय सभ्यता में वर्ण-व्यवस्था का कठोरता से पालन किया जाता था। समाज को ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्गों में बाँटा हुआ था।

मनु ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मनुस्मृति में नटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न सन्तान को नट कहा जाता है। दो वर्णों के संयोग से उत्पन्न होने के कारण मनु ने नटों की गिनती शूद्र-वर्ग में की है। भरत उस समय शूद्र-वर्ग के लोग थे।

नाट्यशास्त्र या भरत शास्त्र ?

प्रायः लोग समझते हैं कि 'नाट्यशास्त्र' नाटक का शास्त्र है। यह भ्रम लोगों को 'नाट्य' शब्द के कारण होता है। बहुत कम लोग इस बात को जानते हैं कि नाट्यशास्त्र में 'नाट्य' शब्द का अर्थ नाटक नहीं है। सच पूछा जाय तो नट,नाट्य तथा नाटक शब्दों में ध्वनि की इतनी अधिक समानता है कि लोग नाट्य शब्द का अर्थ नाटक समझते हैं। नट, नाट्य और नाटक

तीनों ही शब्द संस्कृत भाषा के हैं। इनमें नट शब्द सबसे अधिक प्राचीन है। पाणिनि का परिचय नट शब्द से। पाणिनि ने अपनी पुस्तक '**अष्टाध्यायी**' में नट-सूत्र की चर्चा की है-'पाराशर्य शिलालिभ्याम् भिक्षुनट सूत्रयो।' इस सूत्र में पाणिनि ने यह भी स्वीकार किया है कि उसके समय में नटों के सूत्र प्रचलित थे।

महर्षि पाणिनि का काल ईसा पूर्व छटवीं सातवीं शताब्दी माना गया है। बौद्ध और जैन धर्म पाणिनि के बाद शुरू हुए थे। पाणिनि ने यह स्वीकार किया है कि नटों के सूत्र उसके काल में प्रचलित थे। इसका मतलब यह हुआ कि ये सूत्र उससे पहले ही बन चुके थे। अब यह देखना जरूरी है कि पाणिनि से पहले नट शब्द का अर्थ या स्वरूप क्या था ?

पाणिनि से पहले देश में जो भाषा प्रचलित थी, उसे आर्ष-प्राकृत के नाम से जाना जाता है। पाणिनि ने आर्ष-प्राकृत भाषा को ही सुसंस्कारित करके इसे संस्कृत का रूप दिया था। आर्ष-प्राकृत भाषा में नट के लिए '**णट्ट**' शब्द का प्रयोग किया जाता था। '**णट्ट**' का अर्थ आर्ष-प्राकृत में '**नाचनेवाला**' था। इसे संस्कृत में नर्तक कहा गया है। श्री हरगोविन्द सेठी और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने आर्ष-प्राकृत के '**णट्ट**' शब्द का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है '**णच्चन्ति णट्टा, पभणन्ति बिप्पा**' अर्थात **नट नाचते हैं** और **विप्र पढ़ते हैं**।

संस्कृत में इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा गया है कि नट धातु में '**अण**' प्रत्यय लगाकर उसकी रचना हुई है, जिसका अर्थ है नर्तक। इसी शब्द से 'नटनम्' शब्द बना है, जिसका अर्थ है-नर्तन या नाचना। संस्कृत भाषा के सभी कोशों में स्पष्ट किया गया है कि नट से नाट्यम् शब्द की रचना होती है और नाट्यम् का अर्थ नृत्य करना है।

नट एक प्राचीन जाति -

प्राचीन भारत में नट नामक एक प्राचीन जाति थी। ये लोग ढोल बजाकर अपने शरीर के कौतुकों से जनता का मनोरंजन किया करते थे। ये घूमने वाली यायावर जाति थी। लय और ताल का इनको स्वाभाविक ज्ञान था और अंग-विक्षेप अर्थात शरीर के किसी भी भाग को किसी भी दिशा में



चिदम्बरम के पट्ट में नटों का कौतुक.



सीकर से प्राप्त नृत्य-पट्ट। इसमें क्रमश: अवनद्ध, घन तथा सुषिर (ढोल, मंजीरा तथा वंशी) वादन का दृश्य है। समय १० वीं शताब्दी।

घुमाने चलाने का इन्हें अभ्यास था। वह भी शरीर को लय के साथ संचालित करने में इन्हें महारत हासिल थी।

बहुत से विद्वानों ने 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित नट शब्द का अर्थ अभिनेता किया है। इस सम्बन्ध में यह बात समझ लेनी चाहिए कि नटों का वर्ग पहले अलग था। वाल्मीकि कृत '**रामायण**' में, चाणक्य के '**अर्थशास्त्र**' में 'नट, नर्तक, गन्धर्व' शब्दों का अनेक बार प्रयोग हुआ है। इसका मतलब साफ है कि तब तक समाज में नट और नर्तक दोनों वर्गों की पहचान अलग थी। यह भी सत्य है कि नटों का वर्ग धीरे-धीरे नाट्य-प्रदर्शन से जुड़ता गया। पतंजलि के '**महाभाष्य**' में एक चर्चा आती है कि मूल प्रदर्शन से पूर्व नटिनी दर्शकों के बीच से होकर मंच पर जाती थी। दर्शकों में से लोग उससे पूछते **कस्य यूयम, कस्य यूयम**' अर्थात् **नटिनी तू किसकी है ? किसकी है ?** और वह उत्तर में सभी को सिर झुका कर कहती - '**तव तवेति, तव तवेति**' कि **महाराज! मैं आपकी ही हूँ. आपकी ही हूँ।**' तब वह मंच पर जाकर अपने साथियों के साथ कौतुक दिखाती थी।

चिदम्बरम् में एक दीवार पर इस दृश्य का चित्र भी बना हुआ है। पत्थर की खुदाई के चित्र में दिखाया गया है कि मंच पर दो नट अपने कौतुक दिखा रहे हैं। एक ढोल बजा रहा है, एक नाक और बांयी हथेली पर छुरी, रखे हुए हैं। उसके दाहिने हाथ में एक छुरी है, इसी छुरी पर एक उल्टी छुरी खड़ी हुई है। नट के दाहिने पाँव के अँगूठे पर एक गदा उल्टा टिका हुआ है। इन दुष्कर क्रियाओं के द्वारा वह अपना कौतुक दिखा रहा है। देखिए चिदम्बरम के पट्ट में नटों का कौतुक वाला चित्र.

लगता है प्राचीन काल में प्रदर्शन से पहले '**पूर्वरंग**' के स्थान पर नटों द्वारा ढोल बजाकर शारीरिक व्यायाम के कौतुक दिखाने की परम्परा थी। बाद में नटों ने जब नृत्त और नृत्य की शिक्षा तण्डु से ले ली और अपनी कला को परिष्कृत कर लिया, तब उसे '**पूर्वरंग**' का नाम दे दिया। नटों ने धीरे-धीरे अपनी वृत्ति को विकसित करके इस कला के साथ जोड़ा और जब इस कला का शास्त्र लिखा गया, तब वह नटों का शास्त्र होने के कारण '**नाट्यशास्त्र**' कहलाया। इससे पूर्व बहुत समय तक इसका नाम '**भरतशास्त्र**' रह चुका था। बाद में भी बहुत से संस्कृत के आचार्य इसे

करण



ललित



दण्डपक्ष

नृत्त-प्रशिक्षण की प्रारम्भिक १०८ मुद्राओं में से कुछ मुद्राएँ।



भुजंगत्रस्तरेचित



नूपुर

करण

नृत्त अभ्यास की मुद्राएं



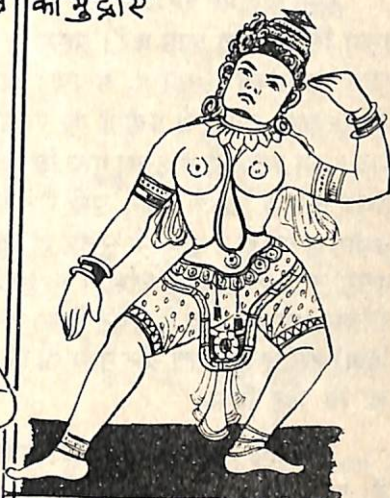
विद्युतभ्रान्त



अतिक्रान्त



विवर्तित



गजक्रीड़ित

'नाट्यशास्त्र' न कहकर 'भरतशास्त्र' ही कहते रहे थे।

'नाट्यशास्त्र' के पहले अध्याय में एक कथा है। इसमें कुछ श्रोता मुनिजन भरतमुनि से पूछते हैं कि नाट्य की उत्पत्ति कैसे हुई और उसके कितने अंग हैं? उत्तर में भरतमुनि कहते हैं कि शूद्रों के लिए वेदों का व्यवहार वर्जित था। वेद द्विजातीय थे।अतः शूद्र न तो वेदों का पाठ कर सकते थे और न उनको सुन ही सकते थे।

एक दिन देवताओं की प्रार्थना पर देवराज इन्द्र ने ब्रह्माजी से जाकर प्रार्थना की कि कोई ऐसी विद्या दीजिए, जिसमें देखने और सुनने के दोनों गुण हों और जिसका प्रयोग हर वर्ग का आदमी कर सके। ब्रह्माजी ने चारों वेदों और चारों उपवेदों का स्मरण किया और उनसे आठ गुण लेकर '**पंचमवेद**' के रूप में **नाट्यवेद** की सृष्टि की। उसके बाद यह 'पंचमवेद' हमें प्रयोग करने के लिए दे दिया गया। आशीर्वाद के रूप में पितामह ब्रह्मा ने यह भी कहा कि यह यज्ञ के समान फल देने वाला होगा, जप और पूजा की भांति पवित्र होगा।

हमने पितामह ब्रह्मा से कहा कि हमारा प्रयोग सुन्दर तभी बनेगा, जब इसमें स्त्रियां साथ काम करें। ब्रह्मा ने हमें २४ अप्सरायें दीं। एक दिन हमने इन्द्रध्वज समारोह मनाया। इसमें हमने '**अमृतमंथन**' और '**त्रिपुरदाह**' नामक दो प्रयोगों का प्रदर्शन किया। भगवान शंकर ने इन्हें देखा। जब ब्रह्माजी ने उनसे पूछा कि आपको ये प्रयोग कैसे लगे? भगवान शंकर ने कहा कि जो प्रयोग अभी मैंने देखे, वे **शुद्ध प्रयोग** थे, इन्हें **चित्र-प्रयोग** बनाने से ये और भी सुन्दर हो जायेंगे, **चित्र प्रयोग** बनाने के लिए इसमें नृत्य को जोड़ना चाहिए। ब्रह्माजी ने कहा कि इन्हें नृत्त की शिक्षा दीजिए।भगवान शिव ने अपने शिष्य तण्डु को हमें नृत्त सिखाने का आदेश दिया। हमें तण्डु ने नृत्त और नृत्य की शिक्षा दी, उसके बाद हमने इसमें नृत्त को भी जोड़ दिया।

इस कथा से इस कला के ऐतिहासिक विकास की कहानी सामने आती है। पहले नटों का वर्ग उपेक्षित था, उन्हें वेदों के प्रयोग का अधिकार नहीं था। बाद में इनका अलग से 'पंचमवेद' बना। पहले इनके प्रयोग में स्त्रियां

सम्मिलित नहीं थीं। बाद में स्त्रिया भी इनके साथ जुड़ीं। पहले इनके प्रयोग में केवल अभिनय था, बाद में इसमें नृत्य भी जुड़ गया। यह बात इस प्रसंग में खास-तौर पर ध्यान रखने की है कि 'नाट्यशास्त्र' का जन्म 'पंचमवेद' के रूप में सभी वर्णों के लिए समानता का अवसर देने के लिए हुआ। इसे प्रारम्भ से ही '**सार्ववर्णिक**' यानी कि सभी वर्णों के लिए तथा '**लोकोपदेशजननं**' अर्थात् लोक में रहने वाले समस्त प्राणियों को उपदेश देने वाला कहा गया। यह बात भी बहुत साफ है कि इसके रचनाकार भरत थे या यों कहें कि भरतों का इससे शुरू से ही गहरा सम्बन्ध रहा है।

अब यह समझने के लिए काफी चीजें हमारे सामने हैं कि 'नाट्यशास्त्र' नटों का शास्त्र है। नटों को शूद्र कहकर आर्य-संस्कृति के पक्षधरों ने अपने से दूर रखा। नट भारतीय मूल के थे, अत: उन्होंने किसी समय स्वयं को **भरत** कहना प्रारम्भ कर दिया। पहले यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि भरतों की गणना उस काल में शूद्रों के वर्ग में की जाती थी। इस प्रसंग में यह बात समझ लेना भी जरूरी है कि उस काल में शूद्र का अर्थ आज के अर्थ से भिन्न था। उस समय जो भी व्यक्ति, वह चाहे किसी भी वर्ण का हो स्वेच्छा से कार्य करता था, उस पर आचरण-विरुद्ध कार्य करने का आरोप लगाकर उसे शूद्र करार दे दिया जाता था। यहाँ तक कि यदि किसी ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय या वैश्य स्त्री से कोई संतान उत्पन्न होती थी तो उसे वर्ण-संकर होने के कारण शूद्र कहा जाता था। इतना ही नहीं यदि कोई ब्राह्मण निर्धारित आयु तक अपने पुत्र का यज्ञोपवीत नहीं करा पाता था, तो उसके बालक को शूद्र माना जाता था। कुछ परिस्थितियों में उसे **व्रात्य ब्राह्मण** कहा जाता था और व्रात्य को पुरोहित कर्म करने-कराने का अधिकार नहीं होता था। भरतों की परम्परा के मूल में कौन व्यक्ति हुआ, जिसके कारण इन्हें शूद्र वर्ग में रखा गया, प्रमाणों के अभाव में आज यह कह पाना अत्यन्त कठिन है।

आज का 'नाट्यशास्त्र' उन्हीं भरतों की देन है। बात इतनी पुरानी है कि आज यह नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रन्थ की रचना भरत परम्परा के कितने नाट्यकोविदों ने कितनी सदियों तक की ? इसमें कब-कब कितनी

विधायें और कितने शिल्प जुड़ते गये ?

इस ग्रन्थ का नाम '**नाट्यशास्त्र**' के बजाय यदि **भरतशास्त्र** होता तो लोगों को यह भ्रम न होता कि यह केवल नाटक का शास्त्र है।

भरतशास्त्र -

कभी वर्षों तक देश में इसे '**भरतशास्त्र**' कहा जाता रहा था। इस बात के कितने ही प्रमाण मिलते हैं कि इसका नाम 'भरतशास्त्र' भी रहा है। आन्ध्र प्रदेश से एक ग्रन्थ '**आदिभरतशास्त्रम्**' प्राप्त हुआ। इसके लेखक रामचन्द्र योगीराज हैं। वर्तमान में इसकी एक प्रति मैसूर में तथा दूसरी भाण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान, पुणे में है। इसी प्रकार कबि कण्ठ द्वारा लिखित '**भरतशास्त्र**' नामक एक ग्रन्थ तंजोर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह संस्कृत तथा तेलगू में लिखा हुआ है और इसमें सारी सामग्री नाट्यशास्त्र की है। 'शिशुपाल-वध' नामक संस्कृत नाटक में नाट्यशास्त्र को 'भरतशास्त्र' कहा गया है।

आडियार पुस्तकालय में भी एक ग्रन्थ है, जिसका नाम '**भरतशास्त्र**' है। इसके लेखक आचार्य नन्दिकेश्वर हैं। बड़ौदा के प्राच्य-विद्या-संस्थान में अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियां हैं, जिनके नाम भरतशास्त्र पर हैं। जैसे -

भरतशास्त्रम्	लेखक	रघुनाथ
भरतभाष्यम	लेखक	नान्यदेव
भरतलक्षणम्	लेखक	अज्ञात
भरत-सार-संग्रह	लेखक	चन्द्रशेखर

एक समय था जब लेखक भी अपने नाम के साथ भरत शब्द का प्रयोग करते थे।जैसे - अर्जुनभरतम्, आदिभरतम्, मतंगभरतम् आदि।

विकसनशील ग्रन्थ -

सत्य यह है कि यह एक विकसनशील ग्रन्थ है। इसे न जाने कब-कब कितने लोगों ने लिखा है। आज यह कहना कठिन है कि लिखनेवालों ने इसमें से कब कितना छोड़ा है और कब कितना जोड़ा है।

आज यह भी कहना मुश्किल है कि किस शताब्दी से किस काल तक इसकी शिक्षा श्रुत-परम्परा के आधार पर चलती रही और किस युग में इसका कितना रूप लिपिबद्ध हुआ ? यह भी नहीं कहा जा सकता कि आज जो 'पाण्डुलिपि' नाट्यशास्त्र की उपलब्ध हैं, उसे किस व्यक्ति ने, किस पाण्डुलिपि से, किस काल में नकल की थी ? लेकिन 'नाट्यशास्त्र' का जो रूप आज भी हमें देखने को मिलता है, उसकी सामग्री देखकर बुद्धि चकित रह जाती है। जैसा 'भावप्रकाश' के लेखक शारदातनय ने कहा कि इससे पूर्व बृद्धभरत ने 'नाट्यवेदागम' नामक ग्रन्थ लिखा था। उसमें १२ हजार श्लोक थे। उसे संक्षिप्त करके भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' लिखा, जिसमें ६ हजार श्लोक हैं। तब और भी आश्चर्य होता है कि जब छोटे ग्रन्थ का यह हाल है तो बड़े का क्या रूप रहा होगा ?

वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' ही आज भारतीय और विदेशी विद्वानों के लिए चुनौती बना हुआ है। इस ग्रन्थ की सामग्री ने जर्मन, फ्रान्स, इंग्लैण्ड आदि के विद्वानों को चकित कर दिया। यहाँ तक कि फारसी के लेखकों तक को इसने प्रभावित किया। पटना के **खुदाबख्श शोध केन्द्र** में पिछले दिनों मैंने चार **फारसी** में लिखित पुस्तकें देखीं, जिनमें 'नाट्यशास्त्र' के रस और भाव तथा संगीत का वर्णन फारसी भाषा में किया गया है। इनका परिचय इस प्रकार है -

१. **अस्माये राग-रागनी**	लेखक	नूरुद्दीन जहूरीतरशेजी
२. **उसूलन नगमात**	लेखक	गुलामरजा, रचना-काल, १२२६ हिजरी
३. **खुलासुतुलऐश**	लेखक	मीर हिदायतुल्लाह रचना-काल, १२३६ हिजरी
४. **रिसाला दरमौसीकी**	लेखक	अज्ञात

ग्रन्थों का नाम देखने से ऐसा लगा कि इनका सम्बन्ध संगीत से है। लेकिन जब अन्दर खोलकर पढ़ा तो 'रस-भाव' का विवेचन और नाट्यशास्त्र के 'तालाध्याय' का मैटर दिखाई दिया। मैं देखकर चकित रह गया। किताबों की लिपि और बयान करने का लहजा फारसी में था, लेकिन

'नाट्यशास्त्र' के पारिभाषिक शब्द ठीक उसी प्रकार लिखे गये थे। अस्माए **राग रागनी** का एक छोटा सा नमूना पेश है -

"दरबयाने उसूलो बहूरे मुखतरफा बहिन्दी तालगोयन्द सिंगार रस, हास, करना, रूद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त। कनसिंगारे बीबक बयूक-सजूक"- पृष्ठ ५

सिंगार के बयूक-सजूक संस्कृत के वियोग और संयोग नामक श्रृंगार के दो भेद हैं।भरत ने इन्हें सम्भोग-श्रृंगार और विप्रलम्भ-श्रृंगार कहा है।

खुदाबख्श शोध पुस्तकालय, की पाण्डुलिपि का एक अंश

احوالِ نور الدین محمد ظہوری ترشیزی اصلِ دوم در بیانِ غنا

فرع در بیانِ اصول و بحورِ مختلفہ کہ بہندی تال گویند تبصرہ در

— साभार।

जैसा कहा जा चुका है कि नाट्यशास्त्र में इतनी विद्यायें, इतने शिल्प, इतने विषय हैं, उन पर इतनी बारीकी से लिखा गया है कि उसके एक-एक अध्याय का मैटर लेकर कई-कई किताबें लिखी जा सकती हैं। 'नाट्यशास्त्र' के छटवें अध्याय में एक छोटा सा सूत्र है -

'तत्र विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'

इस छोटे से सूत्र की व्याख्या संस्कृत के कितने ही विद्वानों ने की। इस एक सूत्र पर **आचार्य भट्टलोल्लट, आचार्य शंकुक, आचार्य भट्टनायक, आचार्य अभिनवगुप्त, भट्ट तौत, गोविन्द ठक्कर, नान्यदेव, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ** ने अपनी-अपनी दृष्टि से अपने विचार प्रस्तुत किए। संस्कृत काल के बाद हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकारों में भी बाबूश्याम सुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, पं० रामदहिन मिश्र, डा० भगीरथ मिश्र, डा० नगेन्द्र आदि अपने विचार प्रस्तुत कर चुके हैं।

स्पष्ट है कि 'नाट्यशास्त्र' की सामग्री इतनी गहरी है कि उस पर सदियों से सैकड़ों विद्वानों द्वारा कलम चलाई जा रही है और न जाने कब तक चलती रहेगी।

इसका कारण यह है कि इस एक ग्रन्थ में जब गोते लगाना शुरू करते हैं तो एक के पीछे दूसरा और दूसरे के पीछे तीसरा रहस्य खुलने लगता है। इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु इतनी व्यापक है कि इसमें अध्यात्म, दर्शन, योग, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, मल्ल-विद्या, धनुर्विद्या, गायन, वादन, नर्तन, अभिनय, चित्रकला, मनोविज्ञान, भाषाशास्त्र, ध्वनि-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, छन्द-शास्त्र, व्याकरण, वैशिकशास्त्र, कारुक-शिल्प, यान्त्रिकी, सौन्दर्यशास्त्र तथा अगणित विद्याओं और शिल्पों का समन्वय है। इसीके साथ इसमें भारतीय संस्कृति का प्राक् वैदिककाल से लेकर ईसा की प्रथम शती तक का इतिहास छिपा हुआ है। इस ग्रन्थ की महत्ता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि इसने काव्य और कला की दो परम्पराओं को एक साथ जन्म दिया। एक धारा बाद में '**काव्य-शास्त्र**' कहलाई, दूसरी **संगीत-नृत्य-शास्त्र**। इस ग्रन्थ की छाया पर प्रत्येक शताब्दी में बहुमूल्य ग्रन्थों की रचना होती रही। उदाहरण के लिए कुछ नाम दिए जा रहे हैं, जिनसे इसकी गुणात्मकता का पता चलता है। 'काव्यशास्त्र' के क्षेत्र में इस ग्रन्थ ने नीचे लिखी परम्परा को विकसित किया।

(१) काव्य प्रकाश	आचार्य मम्मट
(२) रसार्णव सिन्धु	सिंह भूपाल
(३) श्रृंगार प्रकाश तथा	
(४) सरस्वती कण्ठाभरण	भोजराज
(५) प्रतापरूद्र यशोभूषण	विद्यानाथ
(६) साहित्य-दर्पण	आचार्य विश्वनाथ
(७) काव्यानुशासन	हेमचन्द्राचार्य
(८) व्यक्ति विवेक	महिम भट्ट
(९) रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ

इसी प्रकार कलाके क्षेत्र में इस ग्रन्थ ने अपनी ज्योति फैलाई और विद्वान लोग इसकी विषय वस्तु का आधार लेकर सैंकड़ों सालों तक एक से एक उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखते रहे। जानकारी के लिए कुछ नाम यहाँ दिए जा रहे हैं -

१- अभिनयदर्पण	आचार्य नन्दिकेश्वर
२- तालाध्याय	-आचार्य दामोदर
३- नर्तन-निर्णय	-आचार्य पुण्डरीक विठ्ठल
४- नाट्य-लक्षण	-आचार्य श्रृंगभूपाल
५- नृत्याध्याय	-अशोक मल्ल
६- संगीत-दर्पण	-दामोदर
७- संगीत-पारिजात	-अहोबल
८- संगीतमकरन्द	-नारद
९- संगीतरघुनन्दन	-विश्वनाथ सिंह
१०- संगीत -रत्नाकर	-शारंग देव
११- राग-विबोध	-आचार्य सोम
१२- रागमाला	-आचार्य जीवराज दीक्षित
१३- रागमाला	-आचार्य मेकर्षणाचार्य
१४- रागमाला	-आचार्य पुण्डरीक विठ्ठल
१५- राग-तत्वविबोध	-आचार्य श्रीनिवास
१६- रस-कौमुदी	-आचार्य श्रीकण्ठ
१७- संगीत सुधाकर	-आचार्य सिंह भूपाल
१८- संगीतराज	-आचार्य कुम्भकर्णराज
१९- संगीतशास्त्रम्	-आचार्य विमल
२०- नाट्यदर्पण	-आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र
२१- दशरूपक	-आचार्य धनंजय
२२- नाट्यचन्द्रिका	-रूप गोस्वामी
२३- भाव प्रकाश	-आचार्य शारदातनय
२४- नाट्य प्रदीप	-आचार्य सुन्दर मिश्र
२५- नाट्यलक्षण-रत्नकोश	-आचार्य सागरनन्दी

सैंकड़ों वर्षों की परम्परा में लिखे गये ये ग्रन्थ सारे देश में लोकप्रिय रहे हैं। देश के विभिन्न क्षेत्रों के तत्कालीन आचार्यों ने इनका स्वागत किया। यही कारण है कि नेपाल से लेकर कन्याकुमारी तक और असम से लेकर सौराष्ट्र तक इन ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां फैली पड़ी हैं। 'नाट्यशास्त्र' की तो बात ही क्या, उसके उपजीव्य, जैसे '**अभिनय दर्पण**' '**दशरूपक**' तथा '**भाव-प्रकाश**' जैसे ग्रन्थों की कितनी ही प्रतियां उत्तर से दक्षिण तक फैली पड़ी हैं।

'भरतशास्त्र' की विषय-वस्तु न केवल नाट्यविषयक अपितु काव्यविषयक ग्रन्थों के लिए भी अपरिहार्य बन गई। काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों ने अपने काव्यविषयक ग्रन्थों में भी इसकी विषय-वस्तु का भरपूर प्रयोग किया है।

लेखन शैली -

'नाट्यशास्त्र' के सैंतीस अध्यायों की लेखन-शैली में स्थान-स्थान पर बहुत से अन्तर दिखाई देते हैं। शैली में गद्य तथा पद्य दोनों प्रमुख शैलियों का प्रयोग किया गया है। इसके बाद इन दोनों शैलियों के अनेक रूप होते जाते हैं। गद्य के अन्तर्गत कहीं सूत्र शैली का प्रयोग किया गया है, कहीं कारिकायें और कहीं विषय प्रतिपादन हेतु निरुक्त शैली का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार पद्य में भी प्रारम्भ के पाँच तथा अन्तिम दो अध्यायों में मूलतः अनुष्टुप छन्द का प्रयोग किया गया है। इसके बाद आगे अध्यायों में छन्दों के रूप बदलने लगते हैं। कुछ स्थलों पर चार उपजातियों के छन्दों का प्रयोग किया गया है। पन्द्रहवें अध्याय में छन्दों के विविध रूप उदाहरण सहित दिए गये हैं।इसके बाद बत्तीसवें अध्याय में पुनः ११० प्रकार के छन्दों का रचना-विधान उदाहरण सहित दिया गया है। पद्य-शैली के अन्तर्गत अनेक छन्द वंश-परम्परा के उद्धृत किए गये हैं। जहाँ वंशपरम्परा से प्राप्त छन्दों का प्रयोग किया गया है, वहाँ छन्दों के विविध रूप दिखाई देते हैं।

अनेक स्थलों पर विषय का प्रतिपादन करते हुए, शास्त्रकार जब वंशपरम्परा से प्राप्त गद्य अथवा पद्य उद्धृत करता है, तब उसकी भाषा शैली

में अन्तर दिखाई देता है। मजे की बात यह है कि कुछ विषय ही ऐसे हैं, जिनमें वंशपरम्परा से प्राप्त उद्धरण दिए गये हैं। लगता है वे विषय बहुत प्राचीन काल में ही ग्रन्थों का रूप धारण कर चुके थे। श्रुतपरम्परा से वे उद्धरण पीढ़ी दर पीढ़ी भरतों को याद कराये जाते रहे और जब 'नाट्यशास्त्र' को लिपिबद्ध किया गया, तब विषय की प्रासंगिकता के अनुसार उन उद्धरणों को ग्रन्थ में जोड़ दिया गया।

रचना क्रम -

शास्त्र की पूरी विषय-वस्तु का बारीकी से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि 'नाट्यशास्त्र' की रचना किसी एक युग में नहीं हुई है, साथ ही यह भी सत्य है कि इसे किसी एक व्यक्ति ने नहीं लिखा है।

धीरे-धीरे प्रयोग होते रहे निष्कर्ष निकलते रहे और परम्परागत रूप से उन्हें अध्ययन हेतु जोड़ा जाता रहा।

लगता है इस ग्रन्थ की रचना तीन चरणों में हुई है। प्रथम चरण में इसका गद्य भाग लिखा गया है। कहीं-कहीं गद्य इतने लम्बे हैं कि उनका काव्य में परिवर्तन करना शायद किसी भी व्यक्ति को, किसी भी काल में सम्भव नहीं हो सका। अतः गद्य के वे लम्बे-लम्बे टुकड़े प्रारम्भ से अब तक वैसे ही रहे हैं। दूसरे चरण में 'नाट्यशास्त्र' का नाट्य-सम्बन्धी गद्य और पद्य मिश्रित आलेख और तीसरे चरण में ग्रन्थ के प्रारम्भ के पाँच अध्याय और अन्त के दो अध्यायों की विषय वस्तु लिखी गई। इसके संयोजन में भी प्रथम, तृतीय और पाँचवां अध्याय शायद शास्त्र को पूज्य एवं महत्वपूर्ण सिद्ध करने के ध्येय से लिखे गये प्रतीत होते हैं। प्रारम्भ के प्रथम, तृतीय, पांचवाँ तथा अन्तिम दो अध्यायों में शास्त्र को अध्यात्म तथा दर्शन से जोड़ा गया है। इन अध्यायों की भाषा-शैली तथा विषय-वस्तु का ढंग पूरी तरह पुराण-कथाओं की भाँति है। इनमें बार-बार कथा-शैली में 'नाट्यशास्त्र' के महात्म्य की घोषणा की गई है।

रचना-काल -

नाट्यशास्त्र के रचना-काल पर जो भी विचार हुआ है, उसे गम्भीर मनन का नतीजा नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजों ने जिस विचारधारा

को जन्म दिया, उसके पीछे उनकी चाल थी। वे दुनियां की सभ्यता को ईसा के जन्म के आस-पास जोड़ना चाहते थे। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों के सम्बन्ध में तो उनका दृष्टिकोण और भी संकीर्ण था। वे नहीं चाहते थे कि भारतवासियों को गुलाम बनाकर, गुलामों की सभ्यता को अपनी सभ्यता से अच्छा सिद्ध होने दें इसलिए **लार्ड मैकाले** ने अपने शिष्य **मैक्समुलर** से भारत के संस्कृत ग्रन्थों का समय बहुत बाद का घोषित कराया और मजे की बात यह है कि अन्य विद्वानों ने मैक्समुलर की बात को प्रामाणिक मान लिया।

इसी कारण 'नाट्यशास्त्र' का रचना-काल अधिकांश विद्वानों द्वारा ईसा के जन्म से २ सौ वर्ष पहले से १०० वर्ष बाद तक माना गया। लगता है रचना-काल का यह निर्धारण 'नाट्यशास्त्र' को नहीं, उसकी पाण्डुलिपियों को देखकर किया गया है, जबकि पाण्डुलिपियों के अनेक रूप हैं, वे अलग-अलग समय में लिखी गई हैं।

'नाट्यशास्त्र' का रचना-काल समझने के लिए उसमें छिपे रहस्यों को समझना आवश्यक है। 'नाट्यशास्त्र' उस काल की रचना है जब तक श्रीराम तथा श्रीकृष्ण का जन्म नहीं हुआ था। 'नाट्यशास्त्र' में जहाँ अन्य ४५ देवताओं के नाम हैं, वहीं राम, कृष्ण, गणेश, दुर्गा आदि का नाम नहीं है। 'नाट्यशास्त्र' के ४५ देवताओं में बहुत से देवता प्राक्-वैदिक काल के हैं, जिनकी परम्परागत पूजा समाज में चलती रही। 'नाट्यशास्त्र' उस काल की रचना है, जब तक संगीत शब्द का जन्म नहीं हुआ था। उसमें संगीत शब्द कहीं भी देखने को नहीं मिलता। 'नाट्यशास्त्र' उस काल की रचना है, जब समाज में व्यभिचारी शब्द का अर्थ दुराचारी के रूप में प्रचलित नहीं हुआ था, अन्यथा भरत उस शब्द का प्रयोग भावों के लिए कदाचित नहीं करते। कृष्ण-कथा का महान् ग्रन्थ '**महाभारत**' का रचना काल यदि विदेशी विद्वानों ने ईसा पूर्व १५०० वर्ष माना है, तब 'नाट्यशास्त्र' उससे बहुत पहले का है। क्योंकि '**महाभारत**' और '**रामायण**' में 'नाट्यशास्त्र' की शब्दावली बहुत मात्रा में दिखाई देती है। इसी के विपरीत 'नाट्यशास्त्र' में राम तथा कृष्णाकालीन किसी भी पात्र के नाम देखने को नहीं मिलते।

'नाट्यशास्त्र' का रचना-काल **मोहन जोदड़ो** और **हड़प्पा** के काल से पहले का है। इन स्थानों की खुदाई से **नर्तकी** की मूर्ति निकली है, मिट्टी के ठप्पों पर **वीणा** के चित्र मिले हैं। स्पष्ट है कि गायन, वादन, नर्तन की परम्परा इस सभ्यता से बहुत पूर्व ही समुन्नत हो चुकी थी। जैसा सभी जानते हैं कि प्राचीन भारत में किसी भी शास्त्र की शिक्षा कण्ठ-परम्परा से चलती थी। अतः लिखित ग्रन्थों का होना आवश्यक नहीं है।

'नाट्यशास्त्र' में व्यवहृत विषयों से आर्यों का विशेष सम्बन्ध नहीं था। नाचने, गानेवालों की परम्परा आर्यों के आगमन से बहुत पूर्व भारत में विकसित हो चुकी थी। इसे जन्म देने वाले यक्ष, नाग, पल्हव, शबर आदि थे। इनमें से यक्षों के अलावा शेष सभी वैदिक पूर्व जातियों को आर्यों ने 'दस्यु' कहकर इन्हें अपना शत्रु माना। नाचने-गानेवालों को आर्य लोग शुरू से ही शूद्र कहते रहे। तभी तो ऋग्वेद में '**नृत्तायसूतं गीताय शैलूषम्**' कहा गया। **सूत** और **शैलूष** पेशेवर नर्तक और गायक थे। इसलिए इन्हें सूत और शैलूष कहकर शूद्र वर्ग में रखा गया। यदि ये लोग गायन, वादन, नर्तन की परम्परा आर्यों के आगमन से पूर्व विकसित न कर चुके होते तो आर्यों के समय नृत्यों के समारोह कैसे हो पाते? **रज्जु-नृत्य**,**वसंत नृत्य**आदि नृत्य की अनेक परम्परायें समाज में कैसे प्रचलित होतीं? इन परम्पराओं की चर्चा वैदिक साहित्य में देखने को मिलती हैं। साथ ही इनकी भर्त्सना भी की गई है।

पाण्डुलिपि की प्रामाणिकता -

आज की बात तो जाने दीजिए आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले भी 'नाट्यशास्त्र' की प्रतियाँ एक जैसी नहीं थी, उनमें पाठ भेद था। 'नाट्यशास्त्र' की **अभिनव भारती**' नामक टीका लिखने वाले आचार्य अभिनव गुप्त ने जिस प्रति से टीका की, उसमें और महाराज भोज ने '**शृंगार प्रकाश**' में जिस 'नाट्यशास्त्र' की प्रति से उद्धरण दिये, उनमें बहुत अन्तर है। एक आलेखक जो अभिनव गुप्त ने उद्धृत किया, वही आलेख भोज ने उद्धृत किया, दोनों में बहुत पाठ भेद है।

आज यह समस्या और भी जटिल हो गई है क्योंकि आज देश अथवा

विदेश में 'नाट्यशास्त्र' की जो भी पाण्डुलिपियां प्राप्त हैं, उनमें **५०० वर्ष से अधिक पुरानी**, कोई पाण्डुलिपि नहीं हैं। इससे पूर्व की सारी पाण्डुलिपियां जाने कब और कैसे विनष्ट हो चुकी हैं।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही लोगों की दृष्टि में यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण निधि के रूप में अपना स्थान बना चुका था और लोग इसे संग्रहणीय शास्त्र समझते थे। यही कारण है कि इसकी प्रतियां उत्तर भारत, दक्षिण भारत, मध्य देश, पूर्वी तथा पश्चिमी क्षेत्रों में चतुर्दिक फैल गई थीं। स्थान-स्थान के आचार्य अपने ग्रन्थों में इसके उद्धरण देकर अपने ग्रन्थों की महत्ता बढ़ाते थे।

इसके बारे में रोचक बात यह है कि यह ग्रन्थ लम्बे समय तक उपेक्षित पड़ा रहा। इसका उद्घाटन सर्वप्रथम सन् १८२६ में **सर एच० एस० विल्सन** नामक एक विदेशी विद्वान ने किया। उन्हें इस ग्रन्थ की चर्चा अनेक सन्दर्भों में पढ़ने को मिली। उन्होंने लिखा कि इतना महत्वपूर्ण ग्रन्थ जिसकी स्थान-स्थान पर चर्चा हुई है, दुर्भाग्य से आज लुप्त हो चुका है। तब अन्य विद्वानों का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ। सन् १८६५ ई० में **श्री एफ० ई० हाल** नामक अमरीकन विद्वान को इस ग्रन्थ के १७ से २०वें अध्याय मिले, पश्चात सन् १८७५ ईसवी में जर्मन विद्वान **हेमान** ने इस पर एक निबन्ध लिखा। सन् १८८० में फ्रैंच विद्वान **पी० रैग्नो** ने इसके दो अध्यायों पर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित किए। सन् १८८८ ई० में रैग्नों के शिष्य **ग्रोसेट** ने 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम से चौदहवें अध्याय तक अपना अध्ययन प्रस्तुत किया। विदेश के विद्वानों द्वारा जब इस ग्रन्थ पर परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया तब भारत के लोगों का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ। बम्बई के **निर्णय सागर प्रेस** ने इस दिशा में प्रयास शुरू किए और सन् १८९४ में सम्पूर्ण 'नाट्यशास्त्र' का संस्कृत पाठ प्रकाशित किया। इसके सम्पादक **पण्डित शिवदत्त तथा काशीनाथ पाण्डुरंग परब** थे। सन् १९१४ में इसी प्रेस ने इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित किया इसके सम्पादक **पण्डित केदारनाथ थे**,किन्तु जो पाण्डुलिपि प्रेस को प्राप्त हुई, वह ध्वस्तावस्था में थीं, उसमें कहीं-कहीं श्लोक नहीं थे। अतः ऐसे स्थानों पर जगह खाली छोड़ दी गई।

सन् १९२९ में **चौखम्बा संस्कृत सीरीज**, बनारसवालों ने इसका एक अन्य संस्करण प्रकाशित किया। 'नाट्यशास्त्र' के इस संस्करण में **३६ अध्याय थे**। इसे **बटुकनाथ शर्मा तथा बल्देव उपाध्याय** ने सम्पादित किया था। बम्बई से प्रकाशित नाट्यशास्त्र में **३७ अध्याय थे**, बनारस वाले में ३६ अध्याय थे। दोनों में पाठ भेद भी बहुत था।

'नाट्यशास्त्र' के इन दो प्रकाशनों से देश में चेतना आयी और इसके शुद्ध और प्रामाणित पाठ की आवश्यकता महसूस होने लगी। इस दिशा में बड़ौदा के महाराज सयाजीराव गायकवाड़ का योगदान कभी नहीं भूला जा सकता! महाराज स्वयं कला और साहित्य के मर्मज्ञ थे। उन्होंने दक्षिण भारत के सुधी विद्वान **श्री एम०** रामकृष्ण कवि को इसका प्रामाणिक पाठ बनाने का काम सौंपा। श्री कवि ने सर्वप्रथम सारे देश में फैली 'नाट्यशास्त्र' की प्रतियों की नकलें एकत्र कीं और उसके बाद उनके पाठ-भेद का सूक्ष्म अध्ययन प्रारम्भ किया। इसी बीच मलाबार और कालीकट में **अभिनव गुप्त** द्वारा विरचित 'नाट्यशास्त्र' के भाष्य '**अभिनव भारती**' का पता लगा। ये सारी प्रतियां अव्यवस्थित एवं अपूर्ण थीं। मद्रास राजकीय प्राच्य पाण्डुलिपि पुस्तकालय ने 'अभिनव भारती' की तीनों प्रतियों के आधार पर एक नयी प्रति बनवायी। श्री कवि ने उसे वहाँ से प्राप्त किया और 'नाट्यशास्त्र' का प्रामाणित पाठ बनाने का काम **सन् १९२० के** आस-पास शुरू कर दिया।

सन् **१९२६ में गायकवाड़ औरियन्टल सीरीज के अन्तर्गत** श्री **एम० रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित** 'नाट्यशास्त्र' **का प्रथम भाग प्रकाशित** हुआ। इसमें **प्रथम से सातवें अध्याय तक** का संस्कृत पाठ था, साथ में '**अभिनव भारती**' थी और नीचे अन्य प्रतियों के पाठ-भेद भी थे।

श्री कवि निरन्तर इस काम में लगे रहे। वर्षों के परिश्रम और प्रयत्न से एक-एक भाग बनता रहा और प्रकाशित होता रहा। 'नाट्यशास्त्र' का दूसरा भाग **सन् १९३४ में प्रकाशित हुआ। इसमें नवम् अध्याय से अठारह अध्याय तक का पाठ** प्रकाशित हुआ। **सन् १९५४ में इसका**

तीसरा भाग प्रकाशित हुआ। इसमें १९ वें अध्याय से २७ वें अध्याय तक का पाठ था। **सन् १९६४ में चौथे अध्याय के ४०-५० पृष्ठ ही प्रेस में छप सके कि श्री कवि का निधन हो गया।** तदनन्तर **श्री जे० एस० पदे शास्त्री** से चौथा भाग पूरा कराया गया और **यह १९६४ में प्रकाशित हुआ।**

'नाट्यशास्त्र' का प्रामाणिक पाठ बनाने में देश के उच्चकोटि के **विद्वान स्वर्गीय एम० रामकृष्ण कवि** ने अपने जीवन के **लगभग ४५ वर्ष लगा दिए**, इतने पर भी उनके जीवन काल में 'नाट्यशास्त्र' के केवल ३ भाग प्रकाशित हो सके।

स्वर्गीय कवि को देश में चालीस से अधिक प्रतियाँ मिलीं। इनमें सबसे अधिक पुरानी प्रति उन्हें उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्र **अल्मोड़ा** से प्राप्त हुई। यह प्रति ५०० वर्ष पुरानी है। शेष प्रतियां इसके बादकी लिखी हुई हैं। अभिनव गुप्त का समय लगभग १२वीं शताब्दी है। अत: जो प्रति अभिनव गुप्त तथा भोज को प्राप्त थीं उनका तो आज पता ही नहीं। साथ ही उन दोनों प्रतियों में उस समय भी पाठ भेद था। ऐसी दशा में यह सहज ही समझा जा सकता है कि जब आजकल उपलब्ध प्रति में इतनी महत्वपूर्ण और आश्चर्यजनक सामग्री देखने को मिलती है तो प्राचीन प्रतियों में हो सकता है कुछ और भी तथ्य रहे हों।

बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान डा० मनमोहन घोष ने 'नाट्यशास्त्र' का अंग्रेजी-अनुवाद किया, जो बंगाल ऐशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से सन् १९५० में प्रकाशित हुआ। इस प्रति में बीच के ६ अध्याय नहीं थे। अत: यह भी पूर्ववर्ती विदेशी विद्वानों की भांति अपूर्ण ही रहा। बाद में डा० घोष का पूरा अनुवाद **मनीषा के** नाम से प्रकाशित होकर सामने आया। बड़ौदा से प्रकाशित 'नाट्यशास्त्र' के चारों भाग ही आज प्रामाणिक पाठ के रूप में देश में उपलब्ध हैं।

इस अवधि में वृन्दावन निवासी **आचार्य विश्वेश्वर जी ने 'अभिनव भारती' के प्रथम से सप्तम अध्याय की हिन्दी व्याख्या की**, जो डा० नगेन्द्र के सम्पादन में सन् १९६० ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी

विभाग से प्रकाशित हुई। सन् १९६४ में नाट्यशास्त्र के १ से ७ अध्याय तक का डा० रघुवंश का हिन्दी अनुवाद मै० मोतीलाल बनारसीदास के यहाँ से प्रकाशित हुआ। सन् १९७१ में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से पण्डित मधुसूदन शास्त्री का १ से ७ अध्याय का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ। नाट्यशास्त्र के पूरे हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन की पाठकों को प्रतीक्षा बनी रही।

इधर मध्य प्रदेश के विद्वान श्री बाबूलाल शुक्ल ने हिन्दी अनुवाद का काम शुरू किया। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से उनके हिन्दी अनुवाद का प्रथम भाग सन् १९७२ में प्रकाशित हो गया। पश्चात् सन् १९७८ में दूसरा तथा ८३ में तीसरा भाग प्रकाशित होकर सामने आया। सन् १९८५ में चौथा भाग भी प्रकाशित हो गया। श्री बाबूलाल शुक्ल बधाई के पात्र हैं। यद्यपि उन्होंने ३६ अध्यायों वाली पाण्डुलिपि का अनुवाद किया है, जो हमारी दृष्टि से अपूर्ण ही नहीं दोष पूर्ण भी है।

भारतीय संस्कृति का आदर्श ग्रन्थ

वेद भारत के प्राचीनतम् एवं महत्वपूर्ण ग्रथ होते हुए भी भारत में भावात्मक एकता स्थापित करने का काम नहीं कर सके। वेद द्विजातीय थे। अतः उन्होंने सवर्णों और अवर्णों के बीच एक दीवार खींच दी। दूसरे वे धर्म-ग्रन्थ थे। अतः केवल धार्मिक जनता के आराध्य थे, जो धर्म की मर्यादा को सर्वोपरि मानते थे। देश के अनार्यों ने वैदिक यज्ञ-विधान को कभी स्वीकार नहीं किया।

महर्षि पाणिनि ने संस्कृत-व्याकरण की रचना की। वह देश में इतनी लोकप्रिय हुई कि उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक उनकी व्याकरण को स्वीकार किया गया।इसका कोई भी विकल्प विद्वान लोग तब से आज तक नहीं खोज सके। इस दृष्टि से वेदों की तुलना में पाणिनि द्वारा रचित संस्कृत व्याकरण का प्रभावदेश को एक सूत्र में बाँधने की दिशा में अधिक सार्थक सिद्ध हुआ। किन्तु व्याकरण का सम्बन्ध भी देश के शिक्षित-वर्ग से था। लोक के सामान्य प्राणियों को न संस्कृत से मतलब था और न उसकी व्याकरण के नियमों से।

इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र का महत्व सर्वोपरि है। उसने वर्ण और वर्ग की दीवारों को तोड़कर, शिक्षित और अशिक्षितों का फासला मिटाकर,एक ऐसी लोक रंजनकारी कला को जन्म दिया, जिसका सम्बन्ध राजा से लेकर प्रजा तक था, आचार्य से लेकर शिष्य तक था,अभिजात वर्ग से लेकर अशिक्षित वर्ग तक था। वैदिक परम्परा ने कालान्तर में शैव, शाक्त, बौद्ध, तथा जैन धर्म को मानने वालों के बीच एक दीवार खड़ी करके अपने को एक वर्ग विशेष तक सीमित कर दिया। इसी प्रकार अन्य धर्मों तथा मतों के मानने वालों में भी एक दूसरे के प्रति कभी सहिष्णुता तथा स्नेह उत्पन्न नहीं हो सका। वहीं नाट्यशास्त्र ने शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन तथा अन्य मतों को मानने वालों को एक सूत्र में बाँध दिया। गायन, वादन, नर्तन के प्रदर्शन के समय सारे मतावलम्बी एक साथ बैठकर इनका आनन्द लेते थे और आज भी लेते हैं।

भरतों ने भारतीय संस्कृति के रचनात्मक पक्ष को सुदृढ़ करने में असाधारण और अद्वितीय योगदान दिया है। वर्ण व्यवस्था के कठोर काल में भरतों ने शूद्रों के अधिकारों के लिए '**पंचमवेद**' की सृष्टि की। भरतों की महानता इसमें थी कि उन्होंने सवर्णों की न निन्दा की और न उनके प्रतिकूल कोई आचरण किया। भरतों ने सवर्णों के विरुद्ध एक **ललित आन्दोलन** छेड़ा। एक नये आधार को ग्रहण कर लोक की चित्तवृत्ति को कलात्मक सौन्दर्य की ओर आकर्षित किया। उनकी कला सम्पदा के लालित्यपूर्ण वैभव ने जन-मन के हृदय पर सहज ही अधिकार कर लिया और समाज का प्रत्येक छोटा बड़ा वर्ग उनकी कला का प्रेमी हो गया। बिना भेद-भाव के समाज के हर वर्ग का प्राणी उनका प्रशंसक बन गया। उस युग की परिस्थितियों में यह कोई छोटा काम नहीं था। भरतों का यह प्रयास इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है।

भरतों का दूसरा महत्वपूर्ण और शाश्वत योगदान गायन, वादन, नर्तन, तथा अभिनय आदि की सुदृढ़ नींव रखना था। गायन के क्षेत्र में षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, और निषाद नामक सात स्वर उनकी देन है। ताल के तिस्र और चतुरस्र रूप तथा विलम्बित, मध्य और द्रुत लय उनके द्वारा प्रतिष्ठापित की गई। तन्त्री वाद्य, सुषिरवाद्य

घनवाद्य तथा अवनद्ध वाद्यों की परम्परा भरतों ने डाली। वादी, विवादी, संवादी, और अनुवादी स्वर उन्होंने बताये। ये सारे तत्व आज भी देश में प्रचलित शास्त्रीय, सुगम और लोक संगीत में प्रयुक्त हो रहे हैं। इतना ही नहीं संगीत चाहे उत्तरभारती हो या कर्नाटक का, आज भी उनमें सात स्वर, ताल, लय आदि का प्रयोग समवेत रूप से हो रहा है। सात के बाद आज तक कोई आठवें स्वर का आविष्कार नहीं कर पाया है। काश्मीर के संगीत और कर्नाटक के संगीत की शैलियों में भेद हो सकता है, किन्तु भरतों द्वारा चलाये गये स्वर और ताल के स्वरूप में कोई भेद नहीं है।

इसी प्रकार वादन के क्षेत्र में चाहे मणिपुरी संगीत हो या मालवा का, राजस्थान का हो या महाराष्ट्र का, असम का हो या गुजरात का, वाद्य-यन्त्रों के आज भी तत्, सुषिर, घन और अवनद्ध रूप प्रयोग में लाये जा रहे हैं। यह बात अलग है कि किसी प्रान्त में अवनद्ध का नाम ढोल है तो कहीं मृदंगम्, कहीं नकारा है तो कहीं मादल, कहीं चंग है तो कहीं तबला।

भरतों द्वारा निर्दिष्ट नर्तन के क्षेत्र में भी भरतों की देन अनुपम है। नृत्य के छः अंगों और छः उपांगों का संचालन देश की सभी नृत्य शैलियों में प्रयोग में लाया जा रहा है। चाहे कत्थक नृत्य हो या कथकलि, मणिपुरी हो या उड़ीसी, भरतनाट्यम् हो या कुट्टिअट्टम्। सभी नृत्यों में पाद-संचालन, कटि-संचालन, हस्तक तथा कलात्मक मुद्रायें भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर ही बनाई जा रही है। नृत्य, भाव नृत्य या लोकनृत्य, सबका नर्तन-विधान भरतों के सिद्धान्तों पर आधारित है।

यही स्थिति अभिनय की है। देश के किसी भी प्रान्त में किसी भी क्षेत्रीय भाषा में जहाँ अभिनय होता है, भरतों द्वारा बताई गई भावाभिव्यक्ति का प्रयोग किया जाता है। देश में फैले शास्त्रीय और लोकनाट्यों, गायन, वादन और नर्तन में भरतों द्वारा स्थापित किए हुए तत्त्व आज भी प्रयोग में लाये जा रहे हैं। प्रत्येक शैली में आंगिक है, वाचिक है, आहार्य है और सात्त्विक है।

सर्वविदित है कि भगीरथ कठोर तपस्या करके पतित पावनी गंगा को पृथ्वी पर लाये थे। भगीरथ से पूर्व उनके पूर्वज अंशुमान तथा सगर भी

असंयुत हस्त


पताक


त्रिपताक


कर्तरीमुख


अर्धचन्द्र


अराल


शुकतुण्ड


मुष्टि


शिखर


कपित्थ


खटकामुख


सूची


पद्मकोश

प्रयत्न करते रहे थे। इसी प्रकार भरत लोगों ने कठोर तप करके गायन, वादन, नर्तन की त्रिवेणी को सार्वजनिक कल्याण के लिए लोक में प्रवाहित किया। कला की इस सुधामय सरिता ने लोक हृदय को आल्हाद और आनन्द के रस से आप्लावित कर दिया। धर्म, जाति, वर्ण, प्रान्त के भेदों को भूलकर सारा लोक भरतों की इस भागीरथी में आनन्द के गोते लगाने लगा, गायन, वादन, नर्तक के महोत्सव मनाने लगा। भरतों ने सारे देश को सच्चे अर्थों में भावात्मक स्तर पर जोड़ा;क्योंकि भरतों की कला के स्रोत भाव और रसों से ही फूटे थे।

भरतों का यह उपकार इस देश की संस्कृति पर एक ॠण है, जिसे आज सांस्कृतिक क्षेत्र के लोगों को चुकाना है। भरतों का यह प्रयास आज के आदमी के लिए एक आदर्श प्रेरणा है, जिसके द्वारा देश को भावात्मक सूत्र के द्वारा पुन: जोड़ा जा सकता है।

धर्म और भाषाओं ने मनुष्य को संकीर्णता के घेरे में बांध कर उसे छोटा किया है।कला ने विभिन्न धर्मों के माननेवालों को एक मंच पर एकत्रित किया है। कला के क्षेत्र में अमजद खां, इलियाज खां, हिन्दुओं के समारोहों में मुस्कराते हुए जाते हैं और पण्डित जसराज, रामचतुर मलिक, पण्डित भीमसैन जोशी मुसलमानों के उर्स में सजदा पेश करने जाते हैं। भावात्मक एकता का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है? यह देन भरतों की है। उन्होंने वीणा के तारों में सात स्वर, दो ग्राम, १४ मूर्च्छनायें और २२ श्रुतियों का नियोजन किया था, भरतों ने स्वर, तान, अलाप और वर्णों की योजना प्रारम्भ की थीं।

भरतों ने सबसे पहले अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में रस और भाव नामक शब्दों को प्रकाशित किया। यदि भरत इन शब्दों को न लिखते तो शायद आज दुनियाँ में लोग रस और भाव नामक शब्दों को जान भी पाते या नहीं, कहा नहीं जा सकता। भरतों ने रस और भाव के स्वरूप का ज्ञान कराया, उनकी व्याख्या की, उनके सूक्ष्म से सूक्ष्म अंग का आश्चर्यजनक विवेचन किया और रस और भाव के इतने सुदृढ़ सिद्धान्त बनाए कि आज हजारों वर्ष के बाद भी वे अमर हैं।

एक समय था जब रस और भाव की सत्ता समस्त भारतीय कलाओं पर अपना एकछत्र शासन करती थी। कला का कोई भी क्षेत्र हो, उस क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व प्रशिक्षार्थी को नाट्यशास्त्र के रस और भाव वाले अध्यायों की विधिवत् शिक्षा लेनी पड़ती थी। **विष्णु धर्मोत्तर पुराण** में लिखा है कि **मूर्ति कला** की शिक्षा बिना रस-भाव को समझे अपूर्ण ही रह जाती है। रस-भाव के अध्ययन से ही मूर्तिकार अपनी प्रतिभा में अंग और उपांगों का सौन्दर्य ढाल सकता है, प्रतिभा की भृकुटियाँ, दृष्टि, अधर, चिबुक, नासिका आदि का कलात्मक भावपूर्ण अंकन तभी किया जा सकता है, जब मूर्तिकार रस-भाव को ठीक से समझ चुका हो। मूर्ति की मुद्रा में कलात्मकता लाने के लिए उसे नाट्यशास्त्र में वर्णित **अंगहारों** तथा **कारणों** की मुद्रओं का सहयोग लेना ही पड़ेगा। यही कारण है कि भारत की प्राचीन मूर्ति-कला में लयात्मक सौन्दर्य और भावाभिव्यक्ति की पूर्णता दिखाई देती है। **यक्ष-यक्षिणी** की मूर्तियाँ हों या **शालभंजिकाएँ** सभी की मुद्राएँ चिन्ताकर्षक एवं कलात्मक दिखाई देती हैं। इसका कारण भरतों का नाट्यशास्त्र है, जिसने इस कला के साधकों के हृदय पर अपना गहरा प्रभाव डालकर उन्हें नृत्तात्मक मुद्राएँ बनाने की प्रेरणा प्रदान की।

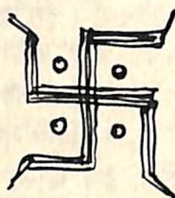
कला की लालित्य पूर्ण अभिव्यक्ति की परम्परा भारतीय चित्र-कला में भी उतर कर आयी। भारतीय चित्र-कला ने तो न केवल नाट्यशास्त्र में वर्णित करणों और अंगहारों से प्रेरणा ली अपितु शास्त्र में वर्णित अन्य विषयों को भी पकड़ा जैसे मध्यकालीन चित्र-कला में चित्रकारों ने **अष्ट-नायिकाओं**, यथा-अभिसारिका, वासक– सज्जा, विरहोत्कंठिता, विप्रलब्धा, प्रोषित भर्तृका, स्वाधीन भर्तृका, खण्डिता तथा कलहान्तरिता के सुन्दर-सुन्दर चित्र बनाये। कालान्तर में इन नायिकाओं के रूप में विकास हुआ, राजपूताना-शैली की चित्र-कला देखें अथवा काँगड़ा शैली की, किशनगढ़ शैली को देखें अथवा पहाड़ी-शैली की या मुगल-शैली की, सभी में नायक-नायिकाओं के मनोरम चित्रण किये गये हैं। इनकी पृष्ठ-भूमि में सौन्दर्य की किरणें फैलाने वाला ग्रंथ भरतों का नाट्यशास्त्र ही है।

भारतीय काव्य-शास्त्र की तो नाट्यशास्त्र जैसे जड़ है। यदि नाट्यशास्त्र न लिखा गया होता तो सैंकड़ों शताब्दियों तक लिखे जाने वाले

काव्य शास्त्रीय गन्थ शायद लिखे ही न जाते। काव्य की परिभाषा, काव्य के अलंकार, काव्य के गुण-दोष, काव्य के लक्षण, छन्द-शास्त्र तथा अनेक काव्यों का मूल यही ग्रन्थ रहा है।

भारत की धातु-कला पर भी नाट्यशास्त्र का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है। धातु निर्मित प्राचीन मूर्तियों में चाहे **नटराज शंकर** की मूर्ति हो अथवा नृत्य करते गणेश की। रमणियों की मूर्ति हो या किसी अन्य की। उनमें कलात्मक सौन्दर्य की छटा दिखाई देती है। **मोहन जोदड़ों** की खुदाई से प्राप्त **नर्तकी** की मूर्ति इस कथन का सशक्त प्रमाण है। और तो और आज तक धातु की बनी वस्तुओं पर खुदाई से जो कलात्मक भावपूर्ण आकृतियाँ बनाई जाती हैं, उन पर प्राचीन मूर्ति-कला का प्रभाव है और प्राचीन मूर्ति-कला नाट्यशास्त्र से प्रभावित है। मूर्तियों का लयात्मक विन्यास तथा कलात्मक साज-सज्जा हमें उसी परम्परा से जोड़ती है।

इस दृष्टि से भरतों के नाट्यशास्त्र ने सारे देश को काव्य, गायन, वादन, नर्तन, शिल्प के माध्यम से भावात्मक एकता के सूत्र में जोड़ा है। भरतों की कला-सृष्टि इतनी सशक्त, सौन्दर्यशाली और कमनीय थी कि देश के प्रत्येक क्षेत्र के साधकों के लिए वह अपरिहार्य बन गई। लोगों को लगा कि जैसे उसके प्रयोग के बिना उनकी कला अपंग और अपूर्ण रह जायेगी। अतः सारे देश ने एक सिरे से दूसरे सिरे तक उसे बिना भेद-भाव के ग्रहण किया और देश में एकरूपता का जयघोष किया।



अध्याय तीन

नाटक प्रदर्शन या प्रयोग?

"भरत का प्रयोग धीरे-धीरे दर्शन, अध्यात्म और धर्म की सरिताओं में स्नान करता हुआ ऊँचाई के उस शिखर पर पहुँच गया, जहाँ इसका लक्ष्य दर्शकों का मात्र मनोरंजन करना ही नहीं था अपितु दर्शकों की चित्तवृत्ति को सुसंस्कारित करने का एक महान नेत्र-यज्ञ बन गया, सभ्य और आदर्श लोकवादी समाज-रचना का एक प्रकल्प सिद्ध हुआ, संवेदनशील और निष्कलंक मानव की रचना का एक कलात्मक अनुष्ठान बना। उसका प्रयोग केवल दिखाने के लिए नहीं, केवल मनोरंजन के लिए नहीं अपितु समाज के परिष्कार एवं विकास के लिए प्रेरणा का पीयूष बहाने के लिए है।



यथा जीवत्स्वभावं हि परित्यज्यान्यदेहिकम् ।
परभावं प्रकुरुते परभावं समाश्रितः ।।

२६-७

एवं बुधः परंभावं सोऽस्मीति मनसा स्मरन् ।
येषां वागंगलीलाभिश्चेष्टाभिस्तु समाचरेत् ।।

२६-८

जिस प्रकार जीव एक शरीर त्याग कर अन्य देह में प्रवेश कर दूसरे जीव के स्वभावानुसार आचरण करने लग जाता है, उसी प्रकार पात्र को चाहिए कि वह जिसकी भूमिका कर रहा है उसका मन से स्मरण करें और उसके बाद अपनी वाणी तथा आंगिक क्रियाओं को उसके अनुरूप बनाले।

आज प्राय: नाट्य के प्रदर्शन को नाटक कहा जाता है। नाट्य या नाटक शब्द मंचन के लिए रूढ़ हो गये हैं। कहीं भी कोई नाट्य प्रस्तुति हो, यही कहा जाता है कि अमुक स्थान पर नाटक या नाट्य का मंचन किया जा रहा है।

भरत अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाटक को '**प्रयोग**' कहता है। नाट्यशास्त्र में '**नाट्य**' अभिनय का एक अंग मात्र है। इसी प्रकार मंचन करने की एक शैली विशेष का नाम भी '**नाटक**' है। नाट्यशास्त्र में **नाट्य** तथा **नाटक** दोनों ही शब्द आज के अर्थ से पूर्णत: भिन्न है।

भरत की कल्पना का नाटक सिर्फ प्रदर्शन तक सीमित नहीं था। प्रदर्शन तो किसी भी छोटी से छोटी, बड़ी से बड़ी या जिंदा और मुर्दा चीजों का हो सकता है। प्रदर्शन के समय देखनेवाले के अन्दर एक जिज्ञासा की भावना होती है, अगर प्रदर्शन की चीजें उसे अच्छी लगें तो उसे अच्छा लगता है। अगर प्रदर्शन की चीजें उसे पसन्द नहीं आतीं तो वह अपनी प्रतिक्रिया प्रकट नहीं करता, चुप रह जाता है।

नाट्य को भरत प्रदर्शन से बहुत आगे की चीज मानता है। भरत का उद्देश्य अभिनय दिखाकर दर्शकों की जिज्ञासा या कौतूहल मिटाना नहीं है। वह जानता है कि अभिनय में चेतन तत्त्व की प्रस्तुति चेतन तत्त्व के सामने होती है।करनेवाले और देखनेवाले दोनों ही मन, बुद्धि से सजग होकर एक-दूसरे के आमने-सामने होते हैं। वह भी दोनों ओर के पक्ष एकाकी नहीं समूह के रूप में होते हैं। जैसे खेल के मैदान में दो दल आमने-सामने एक दूसरे के प्रति टकराने के लिए प्रतिपल तैयार रहते हैं, उसी प्रकार नाट्य के

मंचन के समय दो दल एक दूसरे के सामने अड़े रहते हैं। दर्शक इतना सजग होता है कि पात्र की छोटी से छोटी भूल को एक पल में पकड़ने को तैयार रहता है और पात्रों का समूह इस बात पर आमादा रहता है कि मैं इतने बड़े समूह को अपनी कला के कौशल से मजबूर कर दूँ कि ये मेरी तारीफ करें।

भरत पात्रों और दर्शकों की भाव-भूमि के इन रहस्यों से सुपरिचित था। यही कारण है कि वह इसे प्रदर्शन नहीं कहता। भरत जानता था कि प्रदर्शन को देखने के बाद दर्शक केवल अपना मत व्यक्त करता है कि प्रदर्शन अच्छा था या बुरा? वह नाटक के दर्शक को उस सीमा तक नहीं छोड़ता। उसे आगे बहुत आगे ले जाता है। भरत तमाशा दिखानेवाला बाजीगर नहीं, इन्द्रजाल द्वारा दर्शकों के मन को चमत्कृत करने वाला प्रदर्शनकर्ता नहीं, अपितु वह अपने समाज को समुन्नत करनेवाला, समाज को सुशिक्षित और सुसंस्कारित करनेवाला रागमय नेता है।

भरत का प्रयास इसलिए **प्रयोग** है कि उसे सफल बनाना एक व्यक्ति के हाथ की बात नहीं, उसकी सफलता के लिए रंगकर्मियों के पूरे दल को सामूहिक रूप से प्रयास करना पड़ता है। साथ ही दल के विभिन्न रंगकर्मियों को अनेक शिल्पों के अनेक रूपों को समन्वित करके एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सजगता से काम करना होता है।

'नाट्यशास्त्र' में **नाट्य** तथा **नाटक** दोनों शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। शास्त्र में अभिनय के प्रमुख तीन तत्त्व बताये गये हैं। इन्हें **नृत्त**, **नृत्य** तथा **नाट्य** कहा गया है। भरत के अनुसार 'नाट्य' अभिनय के तीन तत्वों में से एक तत्त्व है। शास्त्रकार कहता है कि प्रदर्शन में पात्र नृत्त के द्वारा दर्शकों के मन में आल्हाद उत्पन्न करता है, नृत्य में गीत सम्मिलित करके चित्तानुरंजन करता है; किन्तु जब पात्र को रस की अभिव्यक्ति करनी होती है, तब उसे 'नाट्य' नामक तत्त्व का प्रयोग करना पड़ता है। रस की निष्पत्ति मुख्य रूप से **मुखज अभिनय** द्वारा की जाती है और **मुखज अभिनय** द्वारा की जानेवाली अभिव्यक्ति '**नाट्य**' कहलाती है। शास्त्र के अनेक प्रसंगों में भरत ने पात्र को निर्देश दिए हैं कि इस प्रकार की प्रस्तुति केवल 'नाट्य' द्वारा होनी चाहिए।

'नाट्यशास्त्र' के १८वें अध्याय में **प्रयोग** प्रस्तुत करने की दस शैलियों का उल्लेख किया है। इन्हें शास्त्र में **दशरूप** कहा गया है। इन शैलियों में **नाटक** एक शैली विशेष का नाम है। इन दस शैलियों में **नाटक**, **डिम**, **उत्सृष्टिअंक**, प्रकरण, समवकार, व्यायोग, भाण, प्रहसन, ईहामृग, वीथी आदि शैलियों को परिभाषित कर यह स्पष्ट किया गया है कि अमुक शैली में इतने अंक होते हैं, इतने पात्र होते हैं, अमुक शैली में युद्ध के दृश्यों की प्रधानता होती है, अमुक में श्रृंगार-रस के प्रसंगों की प्रधानता होती है आदि-आदि।

कहा जा चुका है कि 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य तथा नाटक दोनों शब्द यद्यपि देखने को मिलते हैं; किन्तु दोनों के अर्थ वर्तमान अर्थ से भिन्न हैं।

भरत और उनकी पूर्ववर्ती परम्परा ने कदाचित इस रहस्य को समझ लिया होगा कि मंचन पूर्णतः एक प्रयोग होता है। आज जो प्रस्तुति एक स्थान पर की गई, कल उसी प्रस्तुति में गायक, वादक अथवा प्रस्तोता को दूसरे दिन कहीं भी अपेक्षानुसार परिवर्तन करना पड़ सकता है। पात्र की एक मुद्रा बदलते ही, गायक के स्वर में एक कण अथवा मींड लगते ही उसका रूप बदल जाता है। सम्भव है, आज एक पात्र अपना संवाद बोलते समय नायिका के नेत्रों की ओर देखकर बोले, कल उसी सम्वाद को वह नायिका की मुक्तावली को इंगित करके बोले, ऐसा करते ही पात्र की मुद्रा और भाव-भंगिमा में परिवर्तन हो जायेगा और परिवर्तन की इस प्रक्रिया में यह सम्भव है कि कल की अपेक्षा आज की मुद्रा तथा भाव अधिक कलात्मक एवं प्रभावशाली बन पड़े। यदि उसी भूमिका को कोई अन्य पात्र करता है तो उसकी भंगिमा और वाणी परिवर्तित होने पर उसी संवाद में नयी सौन्दर्य सृष्टि हो जावेगी। अतः इस कला में नित्य-नित्य नयी-नयी मुद्राओं तथा वाणी के उतार-चढ़ाव से नया प्रयोग गतिशील बना रहता है। इसी दृष्टि से शायद नाट्यशास्त्र में इसे '**प्रयोग**' कहा गया था।

कालिदास अथवा **शूद्रक** के नाटकों को विभिन्न कालों में, विभिन्न निर्देशकों ने प्रस्तुत किया होगा। काल के अन्तराल में भूमिका करनेवाले पात्र भी बदलते रहे होंगे। प्रत्येक प्रदर्शन में एक नया रूप परिवर्तित होता

रहा होगा, इन नाटकों के प्रदर्शन, **रूस**, **अमरीका**, **फ्रान्स**, **इंग्लैण्ड** में उनकी भाषा में अनूदित करके किए जाते रहे हैं। प्रत्येक देश की प्रस्तुति में प्रयोग का एक नया रूप सामने आता रहा है।

नाटक की प्रत्येक प्रस्तुति चूँकि निदेशक, भूमिका करनेवाले पात्र, साज-सज्जा करनेवाले, मंच व्यवस्था करनेवाले तकनीकी, वाद्य-वादक, गायक, नर्तक आदि अनेक रंगकर्मियों का समन्वित प्रयोग होता है और कल्पना तथा कौशल भेद से उसमें अन्तर उत्पन्न होता रहता है। अतः वह सही अर्थों में **प्रयोग** का रूप धारण कर लेता है।

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में कई स्थानों पर इसके लिए **प्रयोग** शब्द का उल्लेख किया है। शास्त्र के सत्ताईसवें अध्याय के श्लोक संख्या ९९ में, इकत्तीसवें अध्याय के श्लोक १३९ में, बत्तीसवें अध्याय के श्लोक संख्या ३७८ में वह प्रयोग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहता है कि गायन, वादन और विविध नाट्यांगों के सुन्दर समन्वय को '**प्रयोग** 'कहा जाता है।

प्रयोग के वह दो भेद बताता है। प्रथम '**शुद्ध प्रयोग**' और दूसरा '**चित्र प्रयोग**' अध्याय चार के श्लोक १५ में वह कहता है कि केवल गीतों के द्वारा की जाने वाली प्रस्तुति '**शुद्ध प्रयोग**' होती है, जिसमें नृत्य को भी सम्मिलित कर दिया जाता है, वह '**चित्र प्रयोग**' कहलाता है।

प्रयोग करनेवालों के लिए भरत '**नर्तक**' '**प्रयोगकर्त्ता**' अथवा '**प्रयोगज्ञ**' शब्द का प्रयोग करता है। अभिनेता शब्द उसकी दृष्टि में नहीं है। पूरे नाट्यशास्त्र में अभिनेता शब्द देखने को नहीं मिलता। कारण यह है कि अभिनेता का सम्बन्ध केवल अभिनय से है। भरत की शैली में अभिनय एक शाखा मात्र है। जिसका ज्ञान प्रयोगज्ञ को होना चाहिए। वह अपनी शिक्षा के द्वारा शिष्य को मात्र अभिनेता अर्थात् अभिनय करनेवाला नहीं बनाना चाहता। वह उसे गायन, वादन, नर्तन तथा अभिनय के चारों अंगों की सर्वांगीण शिक्षा देता है। उसका शिष्य मात्र संवादों का वाचक अथवा भावाभिव्यक्ति करनेवाला पात्र नहीं है, अपितु उसका शिष्य गायन-कला, वादन-कला, नृत्त तथा नृत्य का ज्ञाता, अभिनय के आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक अंगों में प्रवीण तथा समस्त नाट्यांगों का जानकार होता है।

भरत की कल्पना का '**प्रयोगज्ञ**' सामान्य कोटि का अभिनेता नहीं अपितु वह गायन, वादन, नर्तन का विशेषज्ञ है। भरत द्वारा आचार्य और शिष्य के गुणों पर प्रकाश डाला गया हे। इन गुणों के लक्षणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी कल्पना का स्वरूप क्या है?

वह शास्त्र के अध्याय ३३ के श्लोक संख्या ११ में आचार्य के ६ गुणों का उल्लेख करता है। इन्हें उसने १. **ज्ञान**, २. **विज्ञान**, 3. **करण**, ४. **वचन**, ५. **प्रयोग सिद्दि तथा**, ६. **निष्पादन** कहा है।

१ - शास्त्र का पूर्ण परिज्ञान '**ज्ञान**' कहलाता है। २ -शास्त्र ज्ञान के आधार पर उसकी क्रियाओं का सम्पादन '**विज्ञान**' कहलाता है। ३ - कण्ठ और हाथ की क्रियाएँ '**करण**' कहलाती हैं। ४ - ग्रन्थों के अनुसार क्रिया और प्रयोगों को सिद्ध करना '**वचन**' कहलाता है। ५ - देश काल के अनुसार क्रियाओं का व्यवहार '**प्रयोगसिद्दि**' कहलाता है।६ - शिष्य के अनुसार शिक्षा देना '**निष्पादन**' कहलाता है।

शिष्य के ६ गुण बताते हुए कहा गया है कि शिष्य में १ -**मेघा**, २ - **स्मृति**, ३ -**श्लाघा**, ४ - **राग**, ५ -**संघर्ष तथा** ६ - **उत्साह** होना चाहिए। अर्थात् १ - प्रखर बुद्धि, २ - स्मरण करने और रखने की क्षमता, ३ - अन्य व्यक्तियों के प्रति आदर का भाव, ४ -विद्या के प्रति मन में अनुराग, ५ - कठोर श्रम करने की क्षमता तथा, ६ -उत्साह का भाव होना चाहिए।

भरत के इस तात्त्विक चिन्तन से स्पष्ट हो जाता है कि उसकी दृष्टि से कोई भी छोटी से छोटी बात छूटी नहीं थी।आज हजारों वर्ष बाद भी अच्छे गुरु और शिष्य में यही गुण होने चाहिए।

प्रयोग के ११ तत्त्व -

शास्त्र में '**प्रयोग**' को ग्यारह तत्त्वों का संग्रह बताया गया है। '**नाट्यशास्त्र**' के छटवें अध्याय में वह नाट्यांगों के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहता है कि प्रारम्भ में यह समझ लेना चाहिए कि मूल रूप से ११ तत्त्वों का संग्रह ही प्रयोग है।

प्रमुख ११ तत्वों की चर्चा करते हुए वह इनके नाम इस प्रकार गिनाता है -

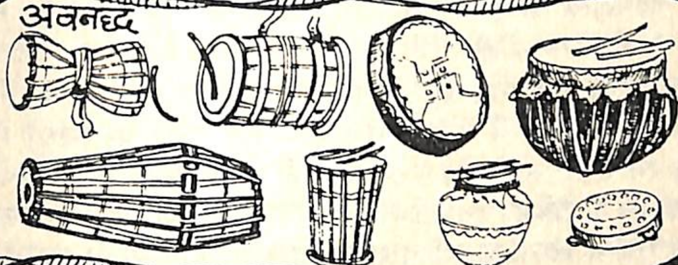
१– रस
२– भाव
३– अभिनय
४– धर्मी
५– वृत्ति
६– प्रवृत्ति
७– सिद्धि
८– स्वर
९– आतोद्य
१०– गान
११– रंगमण्डप

शास्त्र के प्रारम्भ में जब ये ११ तत्त्व सामने आते हैं तो लगता है कि इन ११ तत्वों को समझने से शास्त्र की सारी बात समझ में आ जायेगी। किन्तु जब शास्त्रकार इन ११ तत्वों के भेदोपभेद करता है, तब बुद्धि चकित रह जाती है। शास्त्रकार प्रत्येक पक्ष के बारीक से बारीक अंगों तक पहुँचता है और उनका तात्विक विवेचन और प्रयोग की विधियाँ स्पष्ट करता है।

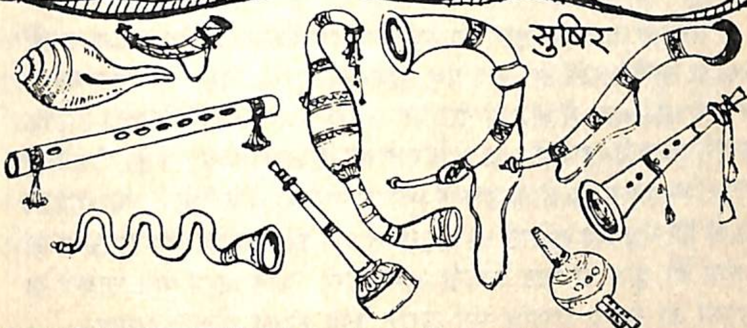
इस सन्दर्भ में पहले यह देखें कि ये ११ तत्त्व क्या हैं? भरत इनका विवेचन करते हुए कहता है कि **रस** आठ हैं। इनके नाम **शृंगार**, **हास्य**, **करुण**, **रौद्र**, **वीर**, **भयानक**, **बीभत्स** तथा **अद्‌भुत** हैं। भावों की संख्या ४९ है, इनमें आठ **स्थायी भाव**, ३३ **व्यभिचारी भाव** तथा ८ **सात्त्विक भाव** हैं। अभिनय के चार भेद हैं, इन्हें **आँगिक**, **वाचिक**, **आहार्य** और **सात्त्विक** कहा गया है। धर्मियाँ दो होती हैं - एक **नाट्यधर्मी** तथा दूसरी **लोकधर्मी**। वृत्तियाँ चार हैं। इन्हें **भारती**, **सात्वती**, **कैशिकी** और **आरभटी** कहा गया है। प्रवृत्तियाँ चार हैं। इन्हें **आवन्ती**, **पाँचाली**, **दाक्षिणात्या** तथा **औद्रमागधी** कहा गया है। सिद्धियाँ दो हैं। इन्हें **दैविकी १** और **मानुषी** कहा गया है। स्वर सात हैं। इन्हें **षडज**, **ऋषभ**, **गान्धार**, **मध्यम**, **पंचम**, **धैवत** तथा **निषाद** कहा गया है। **आतोद्य** चार प्रकार के हैं। इन्हें **तत**, **सुषिर**, **घन** तथा **अवनद्ध** कहा गया है। गान पाँच प्रकार के हैं। इन्हें **प्रावेशिक**, **आक्षेपिक**, **प्रासादिक**, **अन्तर** तथा **निष्क्राम** कहा गया है। रंगमंडप तीन प्रकार के हैं। इन्हें शास्त्र में **चतुरस्र**, **विकृष्ट** तया **त्र्यस्र** कहा गया है। इन सबकी यदि गणना की जाए तो प्रारम्भिक ११ तत्वों

आतोद्य









के ९२ भेद तो यहाँ हो जाते हैं।

रस को शास्त्रकार बहुत महत्त्व देता है। भरत का कथन है कि रस के बिना किसी भी नाट्यांग की अनुभूति नहीं होती। प्रयोग में वह आठ रस मानता है। भरत के बाद आचार्यों ने ९ रस मानते हुए, शान्त नामक रस को जोड़ दिया। शान्त रस की चर्चा प्रमुख रूप से अभिनव गुप्त ने अपने ग्रन्थ 'अभिनव भारती' में की और शान्त रस का स्थायी भाव **निर्वेद** या **शम** बताया।

भरत द्वारा शान्त रस वर्जित -

'नाट्यशास्त्र' के मूल पाठ में आठः रसों के बाद नवें रस के रूप में शान्त रस की भी गणना की गई है। शान्त रस पर शास्त्र में साढ़े पाँच श्लोक हैं। इन श्लोकों की व्याख्या अभिनव गुप्त ने बहुत विशद की है। अन्य रसों की व्याख्या की तुलना में अभिनव गुप्त का मन शान्त रस की व्याख्या में अधिक रमा है और उसने कई पृष्ठों में इसकी व्याख्या की है, अनेक ग्रन्थों के उदाहरण भी दिये हैं। इन श्लोकों के तत्काल बाद वाले श्लोक में शास्त्र में पुनः रसों की संख्या आठ ही बताई गई है '**इत्यष्टौ रसाः** '। ध्यान से देखने पर बात साफ हो जाती है कि भरत ने तो रस आठ ही माने हैं। शान्त रस से सम्बन्धित साढ़े पाँच श्लोक किसी ने बाद में जोड़े हैं। शान्त रस वाले श्लोकों में श्लोक संख्या भी नहीं है। उनसे पहले और बाद वाले श्लोकों में जबकि संख्या क्रम दिया गया है। इस प्रसंग पर रसवाले प्रकरण में हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

भरत ने शान्त रस इसलिए स्वीकार नहीं किया कि मंच पर शान्त रस दिखाना सम्भव नहीं है। मंच पर अभिनय, नृत्य, गान, निरन्तर चलता रहता है। पल-पल में पात्र के मुख पर भाव बदलते रहते हैं, उसकी आँगिक चेष्टायें बदलती रहती हैं। शान्त में पात्र को स्थिर होना पड़ता है। जैसे कोई मुनि तपस्या कर रहा है तो उसकी मुद्रा शान्त रस की प्रतीक है, किन्तु प्रश्न यह है कि मंच पर मुनिजी को शान्त मुद्रा में कितनी देर तक बिठाया जा सकता है? कुछ देर बाद कहानी आगे बढ़ेगी, कोई अन्य पात्र आयेगा या मुनिजी को अपनी समाधि भंग करके कोई संवाद बोलना पड़ेगा।

ऐसा करते ही शान्त रस भंग हो जायेगा।

शान्त रस मूर्तिकला या चित्रकला में दिखाया जा सकता है, मंच-प्रस्तुति की गतिशील कला में नहीं। यही कारण है कि भरत ने **निर्वेद** नामक **संचारी भाव** दिखाने की अनुमति तो दी, शान्त को रस के रूप में स्वीकार नहीं किया। अभिनव गुप्त ने निर्वेद को शान्त रस का स्थायी भाव कहा था।

रस-भेद -

श्रृंगार रस के भरत ने पहले **संयोग-श्रृंगार** और **वियोग-श्रृंगार** नामक दो भेद किये हैं। बाद में उसके **धर्मश्रृंगार**, **अर्थश्रृंगार** और **काम-श्रृंगार** नामक ३ भेदों का विवेचन और किया है। श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति कहा गया है, अतः किसी व्यक्ति के हृदय में धर्म के प्रति रति जाग्रत होना धर्मश्रृंगार है और धन-प्राप्ति के लिए रति जाग्रत होना अर्थश्रृंगार है और प्रेमिका के प्रति रति जाग्रत होने वाला भाव काम-श्रृंगार है।

हास्य रस के भरत '**आत्मस्थ**' और '**परस्थ**' नामक दो भेद करता है। जब पात्र स्वयं हँसता है वह 'आत्मस्थ' हास्य है और जब पात्र अन्य को हँसाता है वह 'परस्थ' हास्य है। आगे वह हास्य के ६ भेद भी बताता है। **स्मित**, **हसित**, **विहसित**, **उपहसित**, **अतिहसित** तथा **अपहसित**। इनका प्रयोग वह उत्तम, मध्यम तथा अधम कोटि के लोगों के लिए बताता है।

करुण रस के भी वह ३ भेद करता है। इन्हें **धर्म-हानि**, **अर्थ-हानि** तथा **शोक** के कारणों के साथ जोड़ता है। रौद्र रस के ३ भेद करता हुआ, **रूपात्मक-रौद्र**, **अंगात्मक रौद्र** तथा **स्वभावात्मक रौद्र** कहता है। इसी प्रकार वीर रस के ३ भेद करता हुआ **दानवीर**, **धर्मवीर** और **युद्धवीर** कहता है। इसी प्रकार भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत के भी भेद करता है। ग्यारह तत्त्वों में रस भी एक तत्त्व था। बाद में उनकी संख्या ८ हुई और जब उनके भी भेद उपभेद किए गये तो रसों के ३० रूप हो जाते हैं।

इस एक उदाहरण के द्वारा हमने यह स्पष्ट करने की, कोशिश की है कि भरत का चिन्तन कितना गहन और दूर तक जाने वाला था। प्रयोग के ११ तत्वों का जब वह विस्तार करता है तो उसकी गहन दृष्टि और ज्ञान की अपरिमित सीमाओं का आभास होता है।

भाव -

भावों में वह सर्वप्रथम आठ रस के ८ **स्थायी भावों** की गणना करता है। पश्चात् ३३ **व्यभिचारी भाव** बताता है। इन्हें वह कई स्थानों पर **संचारी** भी कहता है। भरत ने जब 'नाट्यशास्त्र' की रचना की, उस समय व्यभिचारी का अर्थ दुराचारी या आचरणहीन नहीं था। इस शब्द की रचना 'चर' धातु से हुई थी, जिसका अर्थ चलना था, अर्थात् चलने वाले भाव, जो मुख पर पल-पल में आते और जाते रहते हैं। वह ८ सात्विक भाव बताता है। सत्व से उसका अर्थ मन से है। अतः ये भाव मन से उद्भूत होते हैं।

अभिनय के चार भेद करते हुए उन्हें **आंगिक**, **वाचिक**, **आहार्य** और **सात्विक** कहता है। प्रत्येक प्रयोग में इन समस्त अंगों का प्रयोग होता है। आंगिक के अन्तर्गत **शरीरज**, **मुखज** तथा **चेष्टाकृत** भेद करता है। वाचिक के अन्तर्गत वह कथानक-रचना के नियम तथा वाणी से सम्बन्धित ध्वनि, काकु, स्वर, व्यञ्जन, भाषा आदि के नियमों का निर्देश करता है।

आहार्य के अन्तर्गत वह **पुस्त**, **अलंकार**, **अंग-रचना** तथा **सज्जीव** नामक प्रमुख भेद करके बाद में उनके अनेक भेदोपभेद करता है। इसमें पात्रों के आभूषण, मुकुट तथा वस्त्रों को लेता है। अंग-रचना में मुख-सज्जा के समस्त अंगों के विशद निर्देश देता है, बालों के प्रयोग तथा दाढ़ी, मूँछ लगाने की विधियाँ, मुखौटे बनाने की विधियाँ बताता है। सज्जीव के अन्तर्गत वह मंच-प्रसाधनों को लेता है। साथ ही यह भी बताता है कि हाथी, ऊँट, घोड़े, रथ, विमान, पर्वत, नदी, पशु-पक्षी यदि दिखाने हों तो उनके प्रतीकात्मक रूप किन वस्तुओं से तथा किस प्रकार बनाने चाहिये।

मंच पर वृक्ष, पर्वत, झाड़ियाँ आदि पात्र के रूप में प्रदर्शित करने की

परम्परा लगता है भरतों से पहले चली आ रही थी। आहार्य अभिनय के अन्तर्गत सज्जीव का विधान भरतों ने केवल इसीलिए किया था कि जो भी जड़ अथवा अर्ध-चेतन वस्तुएँ मंच पर दिखानी हों, सज्जीव के द्वारा उनका मानवीकरण किया जा सके। इस विधान में पेड़ पात्र बनकर बोल सकता है, चल सकता है, हँस सकता है, अभिनय कर सकता है। आधुनिक नाटक शैली का (Physical Theatre) **फिजीकल थियेटर** सज्जीव-शैली का ही प्रतीक है।

सात्त्विक के अन्तर्गत वह मूल रूप से मन के पक्ष को लेता है कि अभिनय में मनोयोग को कैसे सम्मिलित करना चाहिये। मनुष्य की प्रकृति और उसका स्वभाव, पात्र की प्रकृति और उसके स्वभाव में किस विधि से प्रदर्शित किए जा सकते हैं?

धर्मियाँ वह दो बताता है- प्रथम **नाट्यधर्मी** तथा दूसरी **लोकधर्मी।** इसके सम्बन्ध में भरत का कथन है कि जब अभिनय में प्रसाधनों का प्रदर्शन सांकेतिक रूप में किया जावे, वह नाट्यधर्मी विधि है, जब यथार्थ वस्तुओं के सहयोग से अभिनय किया जावे वह परम्परा लोकधर्मी कहलाती है।

'नाट्यशास्त्र' में वर्णित धर्मियों के स्वरूप पर शायद अब तक अध्येताओं द्वारा गम्भीरता से विचार नहीं किया गया है। धर्मी शब्द धर्म से बना है। भारतीय संस्कृति में धर्म शब्द बहुत प्रचलित एवं सम्प्रदायसापेक्ष है। अतः न तो लोग इसकी परिभाषा की आवश्यकता का अनुभव करते हैं और न इसे किसी छोटी चीज से जोड़ना चाहते हैं।

नाट्यशास्त्र में प्रयोग होने वाले शब्द नाट्यधर्मी और लोकधर्मी की मूल भावना नाट्य प्रस्तुति के शिल्प से सम्बन्धित है। यदि सामान्य दृष्टि से देखें तो भरत का यह कथन कि जब मंच पर कोई पात्र मूल उपकरणों के लौकिक पदार्थ और प्रसाधनों के सहयोग से अभिनय करता है, उसे लोकधर्मी विधि कहा जाता है, ऊपर से गुजर जाता है, किन्तु इस सिद्धान्त की गहराई पर विचार करें तो पता लगता है कि भरत की लोकधर्मी परम्परा आधुनिक नाटक की यथार्थवादी शैली है।

यथार्थवादी अभिनय-शैली में भी मंच पर समस्त उपकरण तथा प्रसाधन यथार्थ रूप में दिखाये जाते हैं। आधुनिक शैली में इन्हें 'प्रापर्टी' कहा जाता है। पात्र को कमरे में प्रवेश करके यदि जूते, टाई खोलने हैं, मुँह धोकर तौलिए से मुँह पौंछना है, तब पात्र इन सारे यथार्थ उपकरणों का सहारा लेता है। वह मंच पर प्रवेश करके अपने असली जूते खोलता है, पानी के जग से पानी लेकर सचमुच मुँह धोता है, पश्चात् असली तौलिए से मुँह पौंछता है। भरत की दृष्टि में यह सब लोकधर्मी विधान है। नाट्यधर्मी विधान में पात्र के प्रवेश के बाद पात्र को असली जूते नहीं खोलने अपितु पाँव नंगे होते हुए भी उसे अभिनय के द्वारा यह प्रदर्शित करना है कि वह जूते खोल रहा है, पश्चात् जग हाथ में लेने का, उससे पानी उँडेलने का, मुँह धोने आदि का सांकेतिक अभिनय करना है। पात्र के हाथ में तौलिया नहीं है, किन्तु उसे अभिनय ऐसा करना है जैसे वह तौलिया से मुँह पौंछ रहा है। बिना उपकरणों के प्रस्तुत की जाने वाली परम्परा नाट्यधर्मी है।

भरत अपने प्रयोग को चूँकि मात्र अभिनय प्रस्तुति तक सीमित नहीं रखता अपितु अपने प्रदर्शन को गायन, वादन, नर्तन, से संयुक्त कर अपने पात्र से कलामय वैभव की जीवन्त और मनोरम झाँकियाँ प्रस्तुत कराता है। उस शैली में मात्र यथार्थवादी अभिनय भरत की दृष्टि में एक बहुत छोटी चीज है।

यथार्थवादी शैली का आधार अनुकरण है। दुनिया में जो चीज जैसी दिखाई देती है, उसे उसी रूप में प्रस्तुत कर देना अनुकरण कहलाता है। नाटक में **अनुकरण का सिद्धान्त यूनान** की देन है। **अरस्तू** ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ '**द पोइतिक्स**' में नाटक को अनुकरणमूलक बताया है। इसके लिए उसने स्पष्टत: '**इमीटेशन ऑफ एन एक्शन**' शब्द का प्रयोग किया है।

भारतीय नाट्य-पद्धति अनुकरणमूलक नहीं है। भरत की लोकधर्मी परम्परा अनुकरण के द्वारा यथार्थ को प्रस्तुत करने की अनुमति देती है, किन्तु भरत लोकधर्मी परम्परा से अधिक महत्व नाट्यधर्मी परम्परा को देता

है। जिस बात के लिए अरस्तू 'अनुकरण' कहता है, उसके लिए भरत **भावानुकीर्तनम्** कहता है।

भरत का कथन है कि प्रयोग में तीनों लोकों के चराचर जीवों के भावों का अनुकीर्तन प्रस्तुत किया जाता है। कीर्तन शब्द से स्पष्ट है कि भावों की प्रस्तुति संगीतमय होनी चाहिये। अर्थात् गायन, वादन, नर्तन, से युक्त होनी चाहिए। प्रस्तुति गायन, वादन, नर्तनयुक्त होते ही कला के उत्कृष्ट रूप को प्रतिभासित करेगी। उसमें अभिनय के साथ-साथ संगीत कला, तथा नृत्य कला का योग होने से दर्शकों के हृदय को अनुरंजित और आल्हादित करने की शक्ति और बढ़ जायेगी।

यथार्थवादी अभिनय में केवल भूमिका करने वाले की एकाकी कला प्रस्तुत होती है। नाट्यधर्मी शैली में अभिनेता के साथ-साथ अनेक वाद्यों के वादकों की, नृत्य की भंगिमाओं और लयकारी की तथा गायन की राग-रागनियों की कला का सामूहिक प्रयोग होता है। इस विधि में कला के अनेक रूपों की सामूहिक शक्ति विकसित हो जाती है और उसकी प्रभावक शक्ति भी बढ़ जाती है।

चार प्रकार की वृत्तियों का सम्बन्ध पात्रानुकूल तथा रसानुकूल वाचन-शैली से है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग शृंगार रस के प्रसंगों में किया जाता है। भारती वृत्ति संस्कृत पाठ प्रधान होती है और इसका प्रयोग पुरुष पात्रों द्वारा किया जाता है। आरभटी का प्रयोग वीर रस के प्रसंग में करना चाहिये।

प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में भरत का कथन है कि प्रत्येक क्षेत्र के निवासियों की वेश-भूषा, रीति-रिवाज, बोल-चाल आदि विशेष प्रकार की होती है। देश के निवासियों की मूलतः चार प्रवृत्तियाँ हैं। **आवन्ती**, **पांचाली**, **दाक्षिणात्या** तथा **औद्रमागधी**। इन क्षेत्रों की बोल-चाल तथा रहन-सहन के अपने-अपने अलग तरीके हैं। अतः प्रयोग में इन क्षेत्रों के पात्र दिखाते समय उनकी प्रवृत्ति का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

प्रयोग के सन्दर्भ में शास्त्रकार दो प्रकार की सिद्धियों की चर्चा करते

हुए कहता है कि **दैविकी सिद्धि** होने पर प्रयोग काल में आँधी, वर्षा, तूफान आदि का प्रकोप नहीं होता तथा प्रयोग प्राकृतिक प्रकोप से सुरक्षित रहता है। **मानुषी सिद्धि** के अन्तर्गत वह पात्र द्वारा बिना भूल किए, पूर्ण मनोयोग से कार्य करने को कहता है।

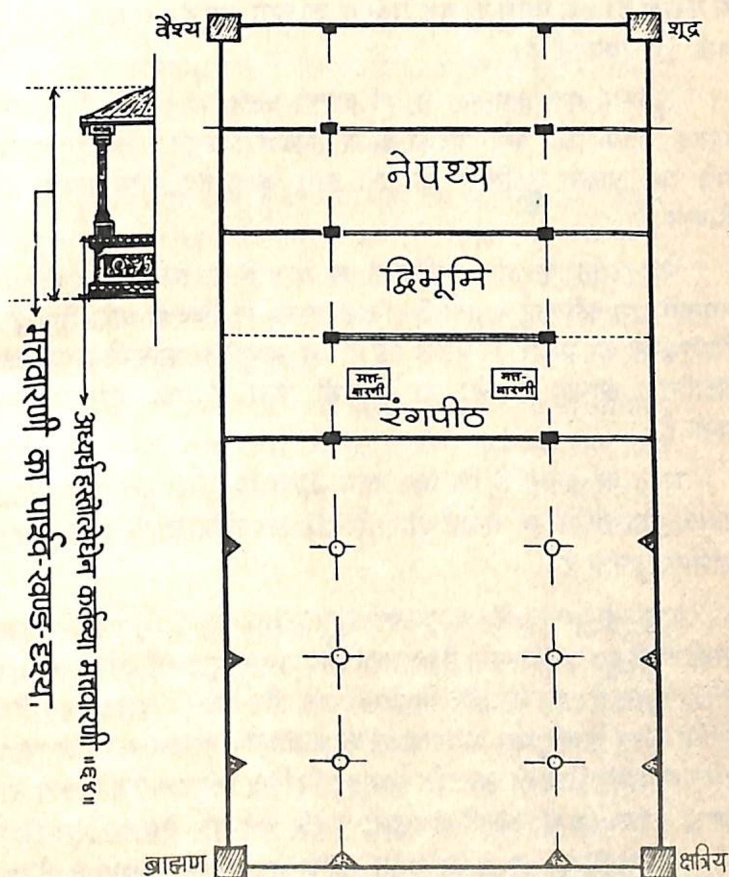
स्वरों की संख्या सात बताते हुए वह कहता है कि प्रयोग में प्रभाव उद्दीप्त करने के लिए गान्धर्व अर्थात् संगीत के **षडज**, **ऋषभ**, **गान्धार**, **मध्यम**, **पंचम**, **धैवत** तथा **निषाद** नामक सात स्वरों का प्रयोग किया जाता है। इनके दो ग्राम, २२ श्रुतियाँ तथा अनेक अलंकार होते हैं। लय के विभिन्न रूपों में इनका निबन्धन किया जाता है।

चार प्रकार के **आतोद्य** अर्थात् वाद्य यन्त्रों के सम्बन्ध में वाद्यों का वर्गीकरण करके उन्हें **तत्**, **सुषिर**, **घन** तथा **अवनद्ध** कहता है। तत् वाद्य के अन्तर्गत वह तार से बजने वाले सारे वाद्य रखता है, सुषिर के अन्तर्गत फूँक से बजाये जाने वाले वाद्यों की गणना करता है, घन में वह धातु के बने मंजीरे, झाँझ आदि को लेता है, जिनमें धातु के टकराने से ध्वनि उत्पन्न होती है तथा अवनद्ध वाद्यों में वह खाल से मढ़े हुए मृदंग, पखावज आदि वाद्यों की गणना करता है।

पाँच प्रकार के गानों में वह **प्रावेशिक**, **आक्षेपिक**, **प्रासादिक**, **अन्तर** तथा **निष्क्राम** नामक पाँच प्रकार के गीतों की चर्चा करता है। इनका सम्बन्ध पात्रों के गायन से है। प्रवेश करते समय गायक को किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, पश्चात् अन्य पात्र के गायन के आक्षेपण के समय गायक को किस बात का ध्यान रखना चाहिये। प्रासादिकी गान का तात्पर्य चलते हुए कथानक की रोचकता बनाये रखने से है। अन्तर गान का सम्बन्ध कथानक का प्रसंग बदलते समय के गान का माधुर्य बने रहने से है तथा **निष्क्राम** गान का सम्बन्ध पात्र के मंच से प्रस्थान करने के समय गाये जाने वाले गान से है।

तीन प्रकार के रंग मण्डप का सम्बन्ध **प्रेक्षागृह** की रचना से है। इनमें वह **चतुरस्र**, **विकृष्ट** तथा **त्र्यस्र** नामक तीन विभिन्न नापों के प्रेक्षागृह बनाने की विधियाँ बताता है। इनके नाप वह हाथों से निर्धारित करता है।

सबसे बड़ा प्रेक्षागृह वह १९२ फीट लम्बा तथा ९६ फुट चौड़ा बताता है। मध्यम नाप में वह ९६ फीट लम्बा तथा ४८ फीट चौड़ा प्रेक्षागृह बनाने का निर्देश देता है तथा तीसरा **त्र्यस्र** रंगमंच त्रिकोणात्मक आकार का होता था, जो खुले मंच के प्रदर्शन के प्रयोगार्थ होता था।



इन ११ तत्त्वों का विस्तार वह आगे के अध्यायों में क्रमशः करता है। प्रत्येक तत्त्व का नामकरण, उसकी रचना विधि तथा प्रयोग के सम्बन्ध में शास्त्रकार छोटी से छोटी बात बताने में भी नहीं चूकता।

नाट्य एक तत्त्व ●

प्रयोग के अन्तर्गत 'नाट्य' एक तत्त्व मात्र है। नाट्य शब्द का सम्बन्ध प्रयोग के अभिनय पक्ष से है। प्रयोग का प्रारम्भ शास्त्रकार एक विशेष विधि से कराता है। इस विधि को वह 'पूर्वरंग' का नाम देता है। 'पूर्वरंग' में छोटी बड़ी २० क्रियायें हैं।

'पूर्वरंग' मूल कथानक से पूर्व प्रस्तुत करने का विधान है। इसमें गायक, गायिकाओं, वाद्य-वादकों की क्रियाओं के विस्तृत निर्देश के अलावा मंच पर आकर नर्तकियों के दल द्वारा कुछ देर नर्तन करने का विधान है।

इस नर्तन के द्वारा नर्तकियों का दल भिन्न-भिन्न आकारों की नयनाभिराम झाँकियाँ बनाता है, जिन्हें शास्त्र में **पिण्डी** कहा गया है। **पिण्डियाँ** चार प्रकार की बताई गई हैं, जो आधुनिक '**कोरयोग्राफी**' का सैद्धान्तिक आधार हैं ओर हर **पिण्डी** अंन्त में एक '**टेबलो**' बन जाती है।

भरत का कथन है कि इस नटन-क्रिया में नृत्य, नृत्त तथा नाट्य नामक तीन तत्त्वों का संयोग होता है और इन तीनों तत्त्वों से मिलकर अभिनय बनता है।

प्रयोग के प्रारम्भ में वह नृत्त को बहुत महत्व देता है। नृत्त का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वह लिखता है कि ताल और लय से युक्त शरीर के भागों का संचालन नृत्त है। इसमें शरीर के हिस्से लय और ताल में चलते रहते हैं। नृत्त के समय केवल वाद्य वादकवाद्यों को बजाते हैं। नृत्य में वाद्यों के साथ गायन भी सम्मिलित हो जाता है। समझने के लिए इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि मंच पर किसी पात्र द्वारा ताथेई, तत् थेई, तिगधा दिग-दिग थेई आदि बोलों के आधार पर नर्तन करना 'नृत्त' है और 'कृष्ण कन्हैया, मुरली बजैया, जमुना के तट पै बिराजे हैं' को प्रस्तुत करते समय भावों द्वारा

कन्हैया यमुना तट आदि दिखाना नृत्य है। अर्थात् नृत्त कला है तो नृत्य कला और काव्य का समन्वित रूप है।

प्रयोग के प्रारम्भ में नृत्त तत्त्व की अनिवार्यता स्पष्ट करते हुए भरत कहता है कि नृत्त सदैव मन में आल्हाद और उत्साह उत्पन्न करता है। वह यह भी स्पष्ट करता है कि पुत्र-प्राप्ति, मांगलिक अवसरों, विवाह आदि के समय लोक का स्वभाव है कि लोग सहसा ही नाचने-थिरकने लगते हैं।इसी प्रकार प्रकृति के किसी सुरम्य दृश्य को देखकर लोग आनन्द में झूमने लगते हैं। अतः मनुष्य के चित्तानुरंजन के लिए प्रयोग का प्रारम्भ नृत्त से करना चाहिए। ताकि अपने-अपने घरों से विभिन्न मनः स्थितियाँ लेकर आने वाले दर्शकों की भाव-भूमि रंजनमय हो जाये।

शुद्ध नृत्त मनुष्य बहुत अधिक देर तक नहीं देख सकता। अतः उसमें गीत मिश्रित करके नृत्य की क्रिया प्रारम्भ कर देनी चाहिए। नृत्य में दर्शक शरीर की कलात्मक भंगिमाओं के साथ-साथ काव्य का रस भी लेने लगता है। साथ ही जो काव्य के विशेष प्रेमी होते हैं, उनकी तुष्टि होने लगती है। क्योंकि प्रयोग एक लोकवादी कला है।

नृत्त और नृत्य का विवेचन शास्त्र में **शरीरज अभिनय** के अन्तर्गत किया गया है। नृत्त और नृत्य शरीर के **छः अंगों** से सम्पन्न किए जाते हैं।इसके बाद वह '**मुखज अभिनय**' की चर्चा करता है। मुखज की अभिव्यक्ति उपांगों से होती है। **उपांगों** में वह मुख के छः अवयव गिनाता है।

शास्त्रकार का मत है कि रस की अभिव्यक्ति हेतु **मुखज अभिनय** की आवश्यकता होती है और मुखज अभिनय ही यथार्थ में नाट्य तत्त्व का मूलाधार है। अतः प्रयोग में जब भी नृत्त और नृत्य के साथ रस की अभिव्यक्ति का काम आवेगा, सदैव 'नाट्य' नामक तत्त्व का उपयोग करना पड़ेगा। नाट्य नामक तत्त्व का प्रयोग आवश्यक नहीं कि स्वतन्त्र हो, यह कथानक की आवश्यकता पर निर्भर करता है कि किस प्रसंग में तीनों तत्त्व सम्मिलित रहने चाहिए और किस में एक या दो तत्त्वों से ही काम चल सकता है।

इस प्रसंग में यह धारणा स्पष्ट कर लेना अनुचित न होगा कि भरत के प्रयोग और पूर्वरंग आदि सम्बन्धी विवेचनों की पृष्ठभूमि में इस कला के उद्भव और विकास के इतिहास का रहस्य छिपा हुआ है।

कहा जाता है कि नटों की जाति के लोगों ने इस विद्या को विकसित किया था। नटों में अंग-विक्षेप की कला विद्यमान थी, ताल पर शरीर के कौतुक दिखाना उनका जातीय गुण था। संसार के प्रत्येक प्राणी में उन्नति और विकास करने की भावना चिरकाल से विद्यमान रही है। इस वर्ग के लोगों ने सैंकड़ों हजारों वर्ष तक संघर्ष करके अपने जातीय गुणों का गुणात्मक विकास किया, समय-समय पर अपनी कला को विकसित और परिष्कृत करने को उन्होंने अन्य लोगों का सहयोग लिया। जब वे इस कला में पारंगत हो गये तब उन्होंने अपनी जाति के मूल शब्द नट को प्रधानता देते हुए, इस विद्या के साथ नट, नर्तन, नाट्य शब्दों का प्रयोग स्थायी कर दिया।

शास्त्र के प्रारम्भ की कथा के अनुसार भरत ने अपने पुत्रों सहित सर्वप्रथम 'त्रिपुरादाह' की रचना डिम शैली पर की गई थी ओर 'अमृत मंथन' की समवकार शैली पर। डिम शैली के प्रयोग का लक्षण बताते हुए शास्त्र में लिखा है कि इसमें माया, इन्द्रजाल, मल्ल-विद्या आदि की प्रधानता रहती है। १६ पात्र होते हैं, इनमें इन्द्र, देव, दानव, राक्षस, भूत-प्रेत आदि दिखाये जाते हैं। समवकार भी कौतुक प्रधान शैली थी।

भरत का प्रयोग धीरे-धीरे दर्शन, अध्यात्म, और धर्म की सरिताओं में स्नान करता हुआ ऊंचाई के उस शिखर पर पहुँच गया, जहाँ इसका लक्ष्य दर्शकों का मात्र मनोरंजन करना ही नहीं था अपितु भरत का प्रयोग दर्शकों की चित्तवृत्ति को सुसंस्कारित करने का एक महान् **नेत्रयज्ञ** बन गया, सुसंस्कारित वृत्तियोंवाले सभ्य और आदर्श लोकवादी समाज की रचना का एक प्रकल्प सिद्ध हुआ, संवेदनशील और निष्कलंक मानव की रचना का एक कलात्मक अनुष्ठान बना। उसका प्रयोग केवल दिखाने के लिए नहीं, केवल मनोरंजन के लिए नहीं, अपितु समाज के परिष्कार एवम् विकास के लिए प्रेरणा का पीयूष बहाने के लिए है। जो प्रयोग समाज के लिए उपयोगी

नहीं, वह उसकी प्रारम्भिक नट-क्रिया तक सीमित है।

आज ऐसे लोग जो गायन कला में प्रवीण हों, वाद्य यन्त्रों को बजाने में सुदक्ष हों, नृत्यकला के मर्मज्ञ हों और अभिनय भी उच्चकोटि का करते हों- उनकी प्रतिभा के सामने भला कौन है जो सिर न झुका दे?

आज का नाटक तो भरत के अनुसार केवल **शुद्ध प्रयोग** तक सीमित है, उसे **चित्र प्रयोग** बनना है; किन्तु उसकी यात्रा भ्रान्तियों के जाल में फँसकर रुक गई है। आज का रंगकर्मी यह निश्चय नहीं कर पा रहा है कि उसे सफलता प्राप्त करने के लिए कौन सा मार्ग चुनना चाहिये? उसके चारों ओर विभिन्न प्रकार की नाट्य-शैलियों का एक चक्रव्यूह खड़ा कर दिया गया है, जिसमें विदेशी आयातित सिद्धान्त और शैलियों के स्तम्भ खड़े हैं। समाज में एक फैशन सा बन गया है कि विदेशी चीजें अपनाओ।

संस्कृति का स्वरूप माँ की तरह होता है, उससे हमारी परम्परा का भावात्मक पक्ष जुड़ा रहता है। अतः हमें कभी न कभी यह सोचने को बाध्य होना पड़ेगा कि हमारा प्रयोग विदेशी शैलियों से नहीं, भारतीय शैलियों से सफल होगा।

इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे देश के भाषायी रंगमंच हैं। मराठी रंगमंच, बंगाली-रंगमंच, तमिल और तेलगू के रंगमंच, मलयालम ओर कन्नड़ के रंगमंच अपने कलेवर में नाट्यशास्त्रीय परम्परा के सिद्धान्तों से जुड़े हुए हैं। अतः उनकी अपनी पहचान है और आज सिने तथा दूरदर्शन के युग में भी अपनी निजी शक्ति से जीवन्त और सक्रिय हैं।

इनके अलावा देश के विभिन्न क्षेत्रों में चलने वाले परम्परित नाट्य रूप, जिन्हें आजकल भ्रान्तिवश लोकनाट्य कहा जाता है-में भी नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अंग जीवित हैं, अतः उनका वर्चस्व और मौलिकता अपनी अलग पहचान बनाये हुए हैं।

भरत की **पूर्वरंग** की कल्पना भी अनूठी है। कहा जा चुका है कि वह प्रयोग से पहले अनिवार्य रूप से पूर्व रंग करने का निर्देश देता है। पूर्वरंग

दरअसल प्रदर्शन से पूर्व पूजा का विधान तो है ही, उसकी २० क्रियाएँ प्रस्तुति में भाग लेने वाले सभी रंगकर्मियों के **मानसिक अनुशासन** की कलात्मक **व्यवस्था** है।

उदाहरण के लिए वह पूर्वरंग की क्रियाओं में **आरम्भ**, **आश्रावण**, **वक्त्रपाणि**, **संघोटना**, **परिघट्टना** आदि से चर्चा प्रारम्भ करता है। ये क्रियाएँ आज भी सम्पन्न की जाती हैं और केवल भारत ही नहीं विश्व के हर थियेटर में सम्पन्न की जाती हैं। अन्तर मात्र यह है कि इनकी आज के थियेटर में थ्यौरी नहीं है, केवल व्यावहारिक रूप में सम्पन्न होती हैं। भरत ने इनकी भी **थ्यौरी** बना दी थी और **थ्यौरी** बनाकर उन क्रियाओं का क्रम निश्चित कर दिया था। जैसे '**आरम्भ**' का अर्थ है, वाद्य-वादक और गायकों का यथा-स्थान बैठ जाना। क्रिया संख्या २ '**वक्त्रपाणि**' का अर्थ है प्रत्येक वाद्य-वादक को हाथ चलाने का जितना स्थान चाहिये, उसे संयोजित कर लेना। '**संघोटना**' का अर्थ है तत् वाद्य-वादक अर्थात् वीणा आदि बजाने वालों को अपने वाद्य के तारों पर हाथ चलाकर उन्हें चैक कर लेना। "**परिघट्टना**" का अर्थ है **मृदंग-वादक** खाल पर आटा लगाकर दोनों ओर की पूड़ियों पर हाथ की घुटाई करके अपने वाद्य की परीक्षा कर लें- इत्यादि।

इन क्रियाओं को विधिसम्मत रूप देकर भरत ने इनका नामकरण कर दिया और इनकी परिभाषा स्पष्ट कर दी। भरत के प्रयोग में यह क्रम देने से वादक और गायक अनुशासित हो गये। हर व्यक्ति अपने क्रम से अपने वाद्य की परीक्षा करता था, ऐसा नहीं कि कभी तबलेवाला हथौड़ी पीट रहा है, कभी सितारवाले खूँटी ऐंठ रहे हैं। थोड़ी देर बाद वंशीवाला शुरू हो गया तो बीच में ही गायक अपना अलाप लेकर स्वर सम्भालने लगा। भरत इन क्रियाओं के नामकरण से इनका क्रम निर्धारित कर देता है और उस क्रम में जब जिसका नम्बर आता है, तब वह अपने वाद्य को मिलाता-सँवारता है।

पूर्वरंग की आगे की क्रियाओं में भरत पूजा का काम भी मंच पर कराता है। सूत्रधार और इसके दो सहायक रंगभूमि में आते हैं। एक सहायक के

हाथ में जलपात्र होता है, दूसरे हाथ में पूजा की थाली। सूत्रधार आचमन और प्रक्षालन करके इन्द्र के ध्वज की पूजा करता है। प्रयोग निर्विघ्न सम्पन्न हो इसकी प्रार्थना के साथ-साथ राजा की अनुशंसा तथा लोकहित की कामना करता है।

पूर्वरंग

	१. प्रत्याहार	६. परिघट्टना	११. आसारित	१६. रंगद्वार
पात्र	२. अवतरण	७. संघोटना	१२. उत्थापन	१७. चारी
वाद्य-वादक	३. आरम्भ	८. मार्गासारित	१३. परिवर्तन	१८. महाचारी
गायक	४. आश्रावणा	९. त्रिघदय	१४. नान्दी	१९. त्रिक
गायिकाएं	५. वक्त्रपाणि	१०. गीत	१५. शुष्कावकृष्टा	२०. प्ररोचना
सूत्रधार				
नान्दी				

पार्श्व — पारिपार्श्वक — विदूषक — नर्तकियाँ — आचार्य

आजकल प्रदर्शन प्रारम्भ होने से पूर्व सफलता की कामना का काम नेपथ्य में किया जाता है। इसके लिए हिन्दी के स्थान पर अंग्रेजी में बोला जाता है-'**विश यू द बैस्ट ऑफ लक**'। तब यह काम सूत्रधार प्रत्यक्ष करता था, अब यह काम परोक्ष में निर्देशक करता है।

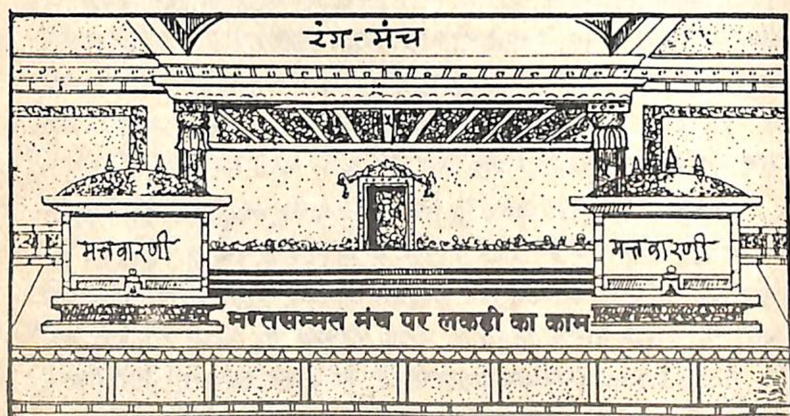
जहाँ तक पूजा का प्रश्न है, वह भी बहुत अनिवार्य है, क्योंकि दैवीय विपत्तियों या विघ्नों से आदमी तब भी डरता था, आज भी डरता है। आज सिने-जगत जैसे क्षेत्र में चाहे कोई मुसलमान निर्माता फिल्म बना रहा हो, मुहूर्त वह भी करता है और मुहूर्त के समय कैमरे पर नारियल फोड़ा जाता है, कैमरे पर माला डाली जाती है, प्रसाद बाँटा जाता है। यह पूजा का विधान तब मंच पर प्रत्यक्ष होता था, अब नेपथ्य में होता है।

भरत की दृष्टि में रंगकर्म की कोई क्रिया व्यक्तिसापेक्ष नहीं, हर रंगकर्मी के हर छोटे-बड़े काम का सम्बन्ध प्रयोग से अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। हर छोटे बड़े कामों को क्रमिक रूप से करने की सूची उसके मस्तिष्क में बन चुकी थी। उसने प्रत्येक क्रिया की महत्ता समझते हुए उनके नाम रख दिये थे, उनकी विशद् परिभाषायें लिख दी थीं और उनके प्रयोग की विधियाँ बना डाली थीं। जिन विधियों को भरत ने आज से हजारों साल

पहले निश्चित कर दिया था, वे आज भी रंगकर्म का अनिवार्य अंग बनी हुई हैं।

भरत रंगकर्म के क्षेत्र में चेतन तत्त्व को महत्व देता है। प्रयोग की सफलता के लिए वह चेतन मनुष्य को मुख्य माध्यम मानता है और मनुष्य के तन और मन को अधिक से अधिक सक्रिय करके, प्रयोग की सफलता का उपकरण बनाता है। जड़ वस्तुओं को वह महत्व नहीं देता। यहाँ तक कि जब उसे प्रयोग में मंच पर पर्वत, वृक्ष, फल-फूल, पत्थर, शस्त्र, रथ, विमान, आकाश जैसी जड़ वस्तुएँ प्रदर्शित करनी पड़ती हैं, वह चेतन मनुष्य की प्रतीकात्मक मुद्राओं के द्वारा उन्हें प्रस्तुत कराने की विधियाँ बताता है।

पशु-पक्षी, गृह, नक्षत्र, संख्याएँ, ऋतुएँ, सूर्य, चन्द्र, झरना, नदी, सागर, आदि को प्रदर्शित करने के लिए वह प्रतीकात्मक मुद्राएँ निर्धारित करता है। उसकी दृष्टि में चेतन पात्र एक सशक्त माध्यम है, वह उसी के द्वारा मंच का सारा कार्य व्यापार सुसम्पन्न कराता है। वह जानता है कि अनुभूति, अभिव्यक्ति, सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता, आदि सभी बातें चेतन मनुष्य के द्वारा अभिव्यक्त करायी जा सकती हैं। उपकरणों की अपेक्षा पात्र को अधिक सशक्त बनाना लाभकारी है।



अध्याय चार

अभिनय

भरत निर्देश देता है कि जिस प्रकार जीव एक शरीर को त्याग कर अन्य शरीर में प्रवेश करके उसके अनुरूप कार्य करने लगता है, उसी प्रकार भूमिका करने वाले पात्र को मंच पर प्रवेश करने से पूर्व अभिनीत करने वाले पात्र का मानसिक स्मरण करना चाहिए और उसी मनोदशा में उस पात्र जैसी वाणी और आंगिक चेष्टाएँ बनानी चाहिए, भरत का अभिनय मानव के मनोविज्ञान की मुद्रासापेक्ष्य प्रस्तुति है।



देशवेषानुरूपेण पात्रं योज्यं स्वभूमिषु ।

अपनी भूमिका देश तथा वेश के अनुसार करनी चाहिये। ३५-१५

• • •

यतोहस्तस्ततो दृष्टि: यतो दृष्टिस्ततो मन: ।
यतोमनस्ततो भाव: यतो भावस्ततो रस: ।।

जहाँ हाथ जाये वहीं दृष्टि को जाना चाहिए, जहाँ दृष्टि जाये वहाँ मन को जाना चाहिये, जहाँ मन जाये वहाँ भाव को जाना चाहिए तथा जहाँ भाव जाये वहाँ रस को जाना चाहिये।

'नाट्यशास्त्र' में **अभिनय** का स्वरूप बहुत विशाल और व्यापक है। भरत ने शास्त्र के आठवें अध्याय में अभिनय शब्द का अर्थ बताते हुए उसके भेद तथा सम्बन्धित अंगों का बहुत बारीकी से विवेचन किया है।

इस सम्बन्ध में सबसे पहले यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि आजकल हम अभिनय का अर्थ अंग्रेजी के (Acting) '**एक्टिंग**' शब्द से लेने लगते हैं। अंग्रेजी शब्द '**ऐक्टिंग**' तथा **अभिनय** में जमीन आसमान का अन्तर है। शास्त्र में वर्णित अभिनय शब्द बहुत व्यापक है। इसकी इतनी शाखा और उपशाखायें हैं कि अंग्रेजी का '**ऐक्टिंग**' शब्द उसके सामने बहुत छोटा और अर्थहीन सा लगता है।

अभिनय शब्द का स्वरूप स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार ने लिखा है - '**आगे की ओर ले जाने वाला तत्त्व, सबको आगे की ओर ले जाने में नेतृत्व प्रदान करने वाला।**' अर्थात् अभिनय उस शक्ति का नाम है, जो हाव-भाव, मुद्रा चेष्टायें, वाणी, विचार आदि को नेतृत्व प्रदान करती हुई अपने मूल स्थान से आगे की ओर प्रेरित करती है। नेतृत्व के द्वारा वह विभिन्न अंगों को सन्तुलित कर उनका उद्देश्य समान और सामूहिक बनाये रखती है।

भरत अभिनय के चार भेद करता है। इन्हें शास्त्र में **आंगिक**, **वाचिक**, **आहार्य** और **सात्त्विक** कहा गया है। **आंगिक** को परवर्ती आचार्यों ने **कायिक** नाम भी दिया है।

आंगिक अभिनय के वह तीन रूप बताता है। इन्हें **शरीरज**, **मुखज** तथा **चेष्टाकृत** कहता है। इन तीनों का सम्बन्ध शरीर के विभिन्न **अंगों** से है। भरत का चिन्तन इतना सूक्ष्म है कि वह विषय का प्रतिपादन करते

समय छोटी से छोटी बात पर भी गहराई से विचार करता है।

शरीरज्॰

आंगिक अभिनय के अन्तर्गत वह सर्वप्रथम **शरीरज** को लेता है और कहता है कि शरीरज अभिनय **अंगों** द्वारा सम्पन्न किया जाता है। **अंगों** की संख्या वह छः बताता है।इन्हें क्रमशः **सिर**, **हाथ**, **वक्ष**, **पाश्र्व**, **कमर** तथा **पाँव** कहता है। यह उसका प्रारम्भिक विभाजन है। जिसमें वह शरीर



के मोटे तौर पर छः भाग करता है और उनके संचालन की विधियां बताता है। भरत अभिनय के लिए **सिर चलाने की १३ विधियाँ** बताता है।इन विधियों के उसने नाम रखे हैं। इन्हें बनाने की विधियाँ विस्तार से बताई

गई हैं। पश्चात् यह बताया है कि अभिनय में इनका प्रयोग किन-किन बातों को दिखाने के लिए किया जाता है।

शास्त्रकार ने अध्याय ८ के श्लोक संख्या १६ में इसे 'शिर-कर्म' कहा है और इनके १३ नाम क्रमशः इस प्रकार रखे हैं -

१ - आकम्पित	२ - कम्पित	३ - धुत
४ - विधुत	५ - परिवाहित	६ - आधूत
७ - अवधूत	८ - अंचित	९ - निहंचित
१० - परावृत्त	११ - उत्क्षिप्त	१२ - अधोगत
	१३ - लोलित	


आकम्पित


कंपित


धुत


विधुत

शिर-कर्म


परिवाहित


आधुत


अवधुत


अंचित


निहंचित


परावृत्त


उत्क्षिप्त


अधोगत


लोलित

शास्त्रकार क्रमशः प्रत्येक प्रकार के सिर चलाने की विधिवत् क्रिया समझाता है। जैसे **आकम्पित** के लिए भरत कहता है कि सिर को ऊपर-नीचे धीरे-धीरे चलाने की क्रिया को 'आकम्पित' कहा जाता है तथा तेजी से चलाने की क्रिया को '**कम्पित**' कहा जाता है।

हाथों से बनने वाली चौंसठ प्रकार की हस्त मुद्रायें बताई गई हैं। इन्हें शास्त्र में एक हाथ की, दोनों हाथों की तथा नृत्त-हस्त की मुद्राएँ कही गई हैं। प्रत्येक मुद्रा का नामकरण किया गया है। साथ ही उनके बनाने की विधियाँ और उनके अभिनय के प्रसंगों का वर्णन किया गया है।

शास्त्र के ९वें अध्याय में श्लोक संख्या ४ से हाथों की मुद्राओं का विवेचन प्रारम्भ होता है। इसमें शास्त्रकार सबसे पहले **२४ प्रकार** के **असंयुत हस्त** अर्थात् एक हाथ की मुद्राओं का वर्णन करता है, जिनके नाम इस प्रकार हैं -

१. पताक	२. त्रिपताक	३. कर्तरीमुख
४. अर्धचन्द्र	५. अराल	६. शुकतुण्ड
७. मुष्टि	८. शिखर	९. कपित्थ
१०. खटकामुख	११. सूच्य	१२. पद्मकोश
१३. सर्पशीष	१४. मृगशीर्ष	१५. कांगूल
१६. अलपद्म	१७. चतुर	१८. भ्रमर
१९. हंसास्य	२०. हंसपक्ष	२१. संदेश
२२. मुकुल	२३. ऊर्णनाभ	२४. ताम्रचूण

इसके बाद भरत **संयुक्त हस्त** अर्थात् दोनों हाथों की मुद्राओं का वर्णन श्लोक ८ तथा ९ में करता है। ये मुद्रायें **१३ प्रकार** की बताई गई हैं। इनके नाम शास्त्र में इस प्रकार दिए गये हैं।

१ - अंजलि	२ - कपोत	३ - कर्कट	४ - स्वस्तिक
५ - खटकावर्धमान	६ - उत्संग	७ - निषेध	८ - दोल
९ - पुष्पपुट	१० - मर्कट	११ - गजदन्त	१२ - अवहित्थ
१३ - वर्धमान			

संयुत हस्त

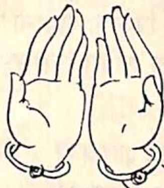

अंजलि


कपोत


कर्कट


स्वास्तिक

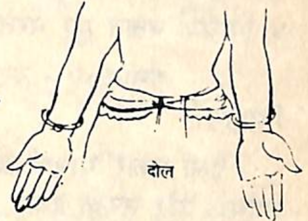

खटकावर्धमान


पुष्पपुट


वर्धमान


अवहित्य


मकर


दोल


निषेध


उत्संग


गजदन्त

भरत नृत्त हस्त की मुद्राओं का विवेचन श्लोक संख्या १० से १६ तक करता है। इन हस्त-मुद्राओं का मुख्य प्रयोग नृत्य में किया जाता है। इन मुद्राओं के वह २७ प्रकार बताता है।

१- चतुर	२- उद्वृत्त	३- तलमुख
४- स्वास्तिकरेचित	५- खटकामुख	६- आविद्धवक्र
७- सूचीमुख	८- रेचितान्वित	९- अर्धरेचित
१०- उत्तानवंचित	११- नितम्ब	१२- केशबन्ध

१३. लतारव्य　　१४. करिहस्त　　१५. पक्षवंचित
१६. पक्षप्रद्योतक　　१७. गरुड़पक्ष　　१८. दण्डपक्ष
१९. ऊर्ध्वमण्डल　　२०. पार्श्वमण्डल　　२१. उरोमण्डल
२२. उरपार्श्वार्धमंडल　　२३. मुष्टिकस्वास्तिक　　२४. नलिनीपद्मकोश
२५. उल्वण　　२६. ललित　　२७. वलित

प्रत्येक हस्त-मुद्रा को बनाने के लिए शास्त्र में पहले यह बताया गया है कि अमुक मुद्रा बनाने के लिए तर्जनी अंगुली को, मध्यमा को, अनामिका को, कनिष्ठा को या अंगूठे को कितना मोड़ना चाहिए। पश्चात् यह बताया गया है कि किस हस्त-मुद्रा का प्रयोग अभिनय में किस बात को प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है।

उर अर्थात् वक्ष चलाने की शास्त्र में ५ विधियाँ बतायी गईं हैं। इनका उल्लेख शास्त्र के अध्याय ९ के श्लोक संख्या २५१ में दिया गया है। इनकी ५ विधियाँ बताते हुए भरत ने लिखा है -

१ - कम्पन, २ - वलन, ३ - स्तम्भन, ४ - उद्वर्तन तथा ५ - विवर्तन।

इसी प्रकार **पार्श्व** अर्थात् बगलों के भाग चलाने की भरत ने ५ विधियाँ और उनके प्रयोग बताए हैं।

भरत ने अध्याय ९ के श्लोक २३४ में इसका विवेचन प्रस्तुत किया है। बगलों को चलाने की पाँचों विधियों के नाम इस प्रकार दिये हैं - १ - नत, २ - उन्नत, ३ - प्रसारित, ४ - विवर्तित, ५ - अपसृत।

कटि अर्थात् कमर के चलाने की ५ विधियाँ और उनके प्रयोग बताये गये हैं। शास्त्र के इसी अध्याय के श्लोक संख्या २४४ में कटि चलाने की पाँचों विधियों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं।



१ - छिन्ना, २ - निवृत्ता, ३ - रेचिता, ४ - कम्पिता, ५ - उद्वाहिता।

इसी क्रम में **पाँव चलाने** की ५ विधियाँ, उनके नाम और प्रयोग शास्त्र में स्पष्ट किये गये हैं। भरत **पाद-कर्म** का विवेचन अध्याय ९ के श्लोक संख्या २६६ में करता है। **पाद-कर्म** में वह पाँव के तलवे चलाने की क्रियाओं को मुख्य रूप से लेता है। जिन्हें वह १ - उद्घट्टित, २ - सम, ३ - अग्रतलसंचर, ४ - अंचित तथा ५ - कुँचित कहता है।

कर-करण



पाद-कर्म



इन क्रियाओं में बताया गया है कि पंजों पर खड़ा होना, ऐड़ी पर खड़ा होना, पाँवों की अंगुलियों को ऊपर की ओर उठाना या उन्हें संकुचित आदि करने का प्रयोग किस विधि से करना चाहिये। आश्चर्य की बात यह है कि हर विधि का नामकरण किया गया है और उसे सम्पन्न करने के निर्देश विस्तार से दिए गये हैं। आंगिक अभिनय के अन्तर्गत शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत नामक ३ भेदों में से यदि केवल शरीरज को ही लें तो उसके ९७ अंग हो जाते हैं।

मुखज अभिनय •

शास्त्राकार का कथन है कि **मुखज अभिनय उपांगों** से सम्पन्न किया जाता है। भरत मुख के अवयवों को **उपांग** कहता है। अंगों की भाँति उपांगों की संख्या भी शास्त्र में ६ बताई गई है। इन्हें **नेत्र**, **भौंह**, **नाक**, **अधर**, **गाल** तथा **ठोड़ी** कहा गया है।

उपांग



भरत कहता है कि अंगों द्वारा किया जानेवाला अभिनय शरीरज कहलाता है, उपांगों द्वारा किया जानेवाला मुखज तथा शरीर तथा मुख से बचे हुए शेष भागों द्वारा किया जाने वाला अभिनय **चेष्टाकृत** की श्रेणी में आता है।

उपांगों के सन्दर्भ में नेत्रों के संचालन की वह ३६ दृष्टियाँ बताता है। इनमें ८ दृष्टियाँ ८ रसों की, ८ स्थायी भावों की तथा २० दृष्टियाँ व्यभिचारी भावों से सम्बन्धित हैं। भरत इन्हें शास्त्र में **रस-दृष्टि**, **स्थायी-भाव-दृष्टि** तथा **संचारी-दृष्टियाँ** नाम देता है।

नेत्रों के अभिनय को भरत बहुत महत्व देता है। इस अभिनय में वह पुतलियों के विभिन्न प्रकार के संचालन की विधियाँ बताता है, पश्चात् अभिनय में उनके प्रयोग समझाता है।

शास्त्र में छत्तीस दृष्टियों के नाम इस प्रकार हैं। रस की आठ दृष्टियाँ १ -कान्ता, २ - हास्या, ३ - करुणा, ४ - रौद्री, ५ - भयानका, ६ - अद्भुता, ७ -वीरा, ८ -बीभत्सा हैं। स्थायी भावों की १ - स्निग्धा, २ - हृष्टा, ३ - दीना, ४ -क्रुद्धा, ५ - दृप्ता, ६ - भयान्विता, ७ - जुगुप्सिता, ८

- विस्मिता कही गयी हैं। इन १६ दृष्टियों के बाद २० दृष्टियाँ संचारी भाव की बताई गई हैं। इनके नाम हैं - १ - शून्या, २ - मलिना, ३ - भ्रान्ता, ४ - लज्जान्विता, ५ - ग्लाना, ६ - शंकिता, ७ - विषण्णा, ८ - मुकुला, ९ - कुंचिता, १० - अभितप्ता ११ - जिह्मा, १२ - सललिता, १३ - वितर्किता, १४ - अर्धमुकुला, १५ - विभ्रान्ता, १६ - विप्लुता, १७ - आकेकरा, १८ - विकोशा, १९ - त्रस्ता, २० - मदिरा।

दृष्टियों के पश्चात् वह **भृकुटियों** के प्रयोग की चर्चा करता है। शास्त्र के अध्याय ८ श्लोक ११८ में इसे '**भ्रू-कर्म**' कहा गया है और इसके प्रयोग की ७ विधियाँ बतायी गई हैं। इन्हें भरत ने इस प्रकार नाम दिए हैं।

१ - उत्क्षेप, २ - पातन, ३ - भृकुटी, ४ - चतुर, ५ - कुंचित, ६ - रेचित, ७ - सहज।

नासिका के प्रयोग पर प्रकाश डालते हुए भरत ने शास्त्र के अध्याय ८ के श्लोक १२९ में इसे '**नासा-कर्म**' कहा है और नाक के प्रयोग की छः विधियाँ निर्धारित की हैं।

१ - नता, २ - मन्दा, ३ - विकृष्टा, ४ - उच्छवासा, ५ - विकूणिता, ६ - स्वाभाविका।

अधर के भरत ने ६ प्रयोग बताए हैं। इसी अध्याय के श्लोक १४२ में अधर अर्थात् ओष्ठ चलाने की छः विधियों के नाम हैं -

१ - विवर्तन, २ - कम्पन, ३ - विसर्ग, ४ - विनिगूहन, ५ - संदष्ट, ६ - समुदगम। इसके पश्चात् भरत श्लोक संख्या १३६ में **कपोलों** के प्रयोग की ६ विधियाँ बताता है। इसे भरत '**गण्डकर्म**' कहता है। इनके नाम हैं - १ -क्षाम, २ - फुल्ल, ३ - घूर्ण, ४ - कम्पित, ५ - कुंचित, ६ - सम। उपांगों के द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले क्रम में आगे भरत **चिबुक** अर्थात् ठोड़ी के अभिनय की ७ विधियाँ बताता है। इन्हें शास्त्रकार १ - कुट्टन, २ - खण्डन, ३ - छिन्न, ४ - चुक्कित, ५ - लेहित, ६ - सम, ७ - दष्ट कहता है।

प्रत्येक उपांग की प्रत्येक संचालन-क्रिया का शास्त्र में नामकरण किया हुआ है ताकि शिक्षा के समय आचार्य को अधिक व्याख्या न करके वांछित क्रिया के लिए उसके नाम का उच्चारण भर करना पड़े। उदाहरणार्थ कोई भाव बनाना हो तो बस आचार्य इतना कहे कि वीरा दृष्टि, उत्क्षेप भृकुटि, विकूणिता नासिका, संदष्ट अधर, आकुंचित कपोल और छिन्न चिबुक का प्रयोग करो।

भरत के सिद्धान्त में भूमिका करनेवाले पात्र का प्रशिक्षण अंग, उपांग और शरीर के अन्य भागों की इकाई के अभ्यास से प्रारम्भ होता है। अभिनय के समय प्रयोग में आने वाले शरीर के हर भाग के संचालन की क्रियाएँ इसने निर्धारित कर दी थीं। एक-एक करके उनका अभ्यास शिक्षा लेनेवाले को करना पड़ता था। उनमें प्रवीण हो जाने के बाद उससे शरीर की संयुक्त क्रियाएँ कराई जाती थीं। करण तथा अंगहार उन्हीं क्रियाओं का एक रूप है। इन क्रियाओं की शिक्षा के बाद आचार्य को केवल क्रिया का नाम लेना पड़ता था। आजकल के पात्र के मुख पर वांछित भाव लाने के लिए कहना पड़ता है कि आप इसे देखकर डर जाती हैं, घबराने लगती हैं, थोड़ा चेहरे पर ऐसा भाव लाइये, वैसा लाइये। थोड़ी घबराहट, दिखाइए...।' इसी ऐसा-वैसा में कभी-कभी घण्टों नष्ट हो जाते हैं। निर्देशक को न तो यह ज्ञान होता है किस भाव को दिखाने के लिए भौंहे, नासिका, पुतलियाँ, अधर या कपोल आदि को किस प्रकार बनाना चाहिए, न उसे भरत के अनुसार इनके नाम मालूम होते हैं।

आंगिक अभिनय के अन्तर्गत अंग और उपांगों के बाद भरत तीसरा भेद **चेष्टाकृत** बताता है। चेष्टाकृत के अन्तर्गत वह **अंगुली**, **भुजाएँ**, **पेट**, **कर**, **जंघा**, **पलक**, **ग्रीवा** तथा **पुतलियों** के संचालन के विस्तार से नियम बताता है। अंगुली चलाने की **तिर्यक**, **ऊर्ध्व**, **अधोमुख**, **अंचित**, **अपविद्ध**, **मण्डलगति**, **स्वस्तिक**, **पृष्ठानुसारी**, **उद्वेष्टित** तथा **प्रसारित** नामक १० विधियाँ शास्त्र में बताई गयी हैं।

अध्याय ९ के श्लोक २५७ में वह जंघा-कर्म अर्थात जांघ चलाने की ५ विधियां बताता है। इन्हें वह १ - आवर्तित, २ - नत, ३ - क्षिप्त, ४ - उद्वाहित तथा ५ - परिवृत्त कहता है। इसी अध्याय में वह श्लोक संख्या

रस की दृष्टियाँ


कान्ता


हास्या


करुणा


रौद्री


भयानका


अद्भुता


वीरा


बीभत्सा

स्थायी भाव की दृष्टियाँ


स्निग्धा


हृष्टा


दीना


क्रुद्धा


दृप्ता


भयान्विता


जुगुप्सिता


विस्मिता

मुख-कर्म


विनिवृत्त


विधुत


निर्भुग्न


भुग्न


विवृत्त


उद्वाहित

तारा-कर्म


भ्रमण


वलन


पातन


चलन


संप्रवेशन


विवर्तन


उद्वृत्त


निष्क्राम


प्राकृत

अधर-कर्म



विवर्तन कम्पन



विसर्ग विनिगूहन



संदष्ट समुद्गम

चिबुक-क्रिया



कुट्टन



खंडन



छिन्न



चुक्कित लेहिन सभ दष्ट

गण्ड-कर्म



क्षाम फुल्ल घूर्ण कम्पिन



कुंचित सम

भ्रू-कर्म



उत्क्षेप



पातन



भृकुटि



चतुर



कुंचित



रेचित



सहज

२४१ में '**जठर-कर्म**' अर्थात पेट के संचालन की ३ विधियों का विवेचन प्रस्तुत करता है। इन्हें वह १ - क्षाम, २ - फुल्ल, तथा ३ -पूर्ण कहता है।

अध्याय ८ के श्लोक संख्या १११ में वह ९ प्रकार के '**पुट-कर्म**' अर्थात् पलकों की क्रियाओं का विवेचन करता है। इन्हें वह क्रमशः १ -उन्मेष, २ - निमेष, ३ - प्रसृत, ४ - कुंचित, ५ - सम, ६ - विवर्तित, ७ -स्फुरित, ८ - पिहित तथा ९ - विताड़ित कहता है।

अध्याय ९ के श्लोक १४७ में शास्त्राकार ने ६४ प्रकार के हस्तकों कोचलाने की १९ विधियों का वर्णन किया है। इन्हें शास्त्र में '**हस्त-प्रचार**' कहा गया है। इनके नाम क्रमशः - १ आकर्षण, २ - विकर्षण, ३ - व्याकर्षण, ४ - परिग्रह, ५ - निग्रह, ६ - आवाहन, ७ - तोदन, ८ - संश्लेषण, ९ - वियोग, १० - रक्षण, ११ - मोक्षण, १२ - विक्षेपण, १३ - विसर्ग, १४ - तर्जन, १५ - छेदन, १६ - भेदन, १७ - स्फोट, १८ - मोटनतथा १९ - ताड़न नाम बताए गए हैं। शास्त्राकार ने इन सब के अभिनय सम्बन्धी प्रयोगों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। भरत के द्वारा केवल आंगिक से सम्बन्धित क्रियाओं की संख्या २११ हो जाती है।

आंगिक अभिनय के सन्दर्भ में यह बात अब पूर्णतः स्पष्ट हो जानी चाहिए कि भरत अभिनय के लिए जो शिक्षा देता है, उसमें नृत्य भी सम्मिलित हैं। अतः उसका प्रयोगकर्त्ता मात्र अभिनेता नहीं, नर्तक भी है। इसीलिए वहप्रयोगज्ञअर्थात प्रयोगकर्त्ता के लक्षण बताते हुए कहता है कि उसे गायन, वादन, नर्तन में प्रवीण होना चाहिए। साथ ही उसे सारे नाट्याँगों का ज्ञाता होना चाहिए।

वाचिक अभिनय •

आंगिक के बाद शास्त्र में **वाचिक अभिनय** का विवेचन किया गया है। वाचिक के अन्तर्गत भरत ने भाषा, ध्वनि, उच्चारण के नियम शब्द और पद-रचना, संस्कृत और प्राकृत के पाठों में अन्तर, काकु, छन्द-रचना के नियम, पद और छन्दों का सम्बन्ध, छन्द और काव्य, काव्यरचना के नियम, काव्य के लक्षण, काव्य के अलंकार, काव्य के गुण और दोष, ध्वनि

के प्रकार आदि का विस्तार से वर्णन किया है। यह भी बताया है कि नाटकों का काव्य मृदु और ललित होना चाहिए, उसमें गूढ़ अर्थ प्रयोग में नहीं लाने चाहिए।

वाचिक अभिनय में भरत सर्वप्रथम यह बताता है कि शरीर में ध्वनि कहाँ से निकलती है। उसका कथन है कि वायु और अग्नि के घर्षण से ध्वनि उद्भुत होती है। शरीर के अन्दर वायु रहती है। श्वाँस लेने के समय वायु का आवागमन चलता रहता है। किन्तु उस समय आवाज नहीं होती। जब शरीर के अवयवों में निहित ऊर्जा किसी दिशा अर्थात् शरीर तन्त्र के किसी अवयव के कोण विशेष से घर्षण करना प्रारम्भ करती है अर्थात् अवयवों की शक्ति वायु से टकराती है तब आवाज निकलती है।

ध्वनि के प्रस्फुटित होने के समय **काकु** कार्य करते हैं और ध्वनि अपने प्रतीकात्मक रूप धारण करने लगती है। भरत के अनुसार ध्वनि निकलने के शरीर में **वक्ष**, **कण्ठ** और **सिर** नामक ३ स्थान हैं। इनसे मन्द, मध्य तथा उच्च ध्वनियाँ निकलती हैं।

ध्वनि को भरत नियमित विधान देते हुए उसका सम्बन्ध भाषा, व्याकरण, काव्य तथा उच्चारण आदि के नियमों से जोड़ता है। इतना ही नहीं वह ध्वनि से गान्धर्व अर्थात् संगीत का सम्बन्ध भी भली भाँति जानता है और उसे षड़ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद से जोड़ते हुए, उसको दो ग्रामों में नियोजित करता है।

भरत के वाचिक का विधान भी अत्यन्त विस्तृत है। उसकी पृष्ठभूमि में सैकड़ों शताब्दियों के प्रयोग और चिन्तन का विकास दिखाई देता है। तभी वह ध्वनि से शब्द तक, शब्द से छन्द तक और कथानक रचना तक पहुँचता है। वाचिक के क्रमिक विकास में वह कथानक रचना तक पहुँचते-पहुँचते, कथानक के भेद, उसमें प्रयुक्त होने वाली अर्थ प्रकृतियों, कार्य की अवस्थायें, सन्धियाँ तथा सन्धियों के ६४ अंगों तक का बहुत सूक्ष्म विवेचन करता है, उनके उच्चारण की विधियों पर प्रकाश डालते हुए उनकी शैलियों का स्वरूप स्पष्ट करता है। उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार के पात्रों द्वारा बोली जाने वाली अनेक प्रकार की भाषाओं की चर्चा करता है। उनके उच्चारण की विधियों पर प्रकाश डालते हुए उनकी

शैलियों का स्वरूप स्पष्ट करता है। उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार के पात्रों द्वारा किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना चाहिए, इसका भी विशद निर्देश देता है।

वह वाचिक के अन्तर्गत प्रयोगकर्त्ता को समस्त प्रकार के विधि सम्मत निर्देश देने के बावजूद यह भी स्पष्ट कर देता है कि मात्र इन बातों की शिक्षा प्राप्त करने से ही लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती। इस शिक्षा के बाद प्रयोगकर्त्ता के कण्ठ में ६ गुण दिखायी देने चाहिए। इन्हें वह १ - श्रावक, २ - घनत्व, ३ - स्निग्ध, ४ - मधुर, ५ - अवधान, तथा ६ - त्रिस्थानशोभित कहता है। जैसे श्रावक का अर्थ है, जिसकी आवाज दूर से भी साफ सुनायी दे। घनत्व का अर्थ है कि ऊँचे स्वर पर भी जिसकी आवाज न भर्राये। अवधान का अर्थ है कि पाठ तेजी से पढ़े या रुक-रुक कर, शब्दों की स्पष्टता बनी रहे। त्रिस्थानशोभित का अर्थ है कि सिर, कण्ठ या वक्ष कहीं से भी आवाज निकाले ध्वनि में माधुर्य बना रहे।

वह सर्वप्रथम यह स्प्ष्ट कर देता है कि उच्चारण के ८ स्थल हैं। अध्याय १४ के श्लोक ११ से वह यह प्रसंग प्रारम्भ करके बताता है कि १ - उर, २ - कण्ठ, ३ - सिर, ४ - जिह्वामूल, ५ - दन्त, ६ - नासिका, ७ - ओष्ठ तथा ८ - तालु नामक उपादानों से ध्वनि निकलती है।

भरत शब्द को **वर्ण** कहता है और शास्त्र के अध्याय १७ के श्लोक १०९ में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित नामक वर्ण की चार प्रकार की ध्वनियाँ निर्धारित करता है। अध्याय १४ के श्लोक ११ में **घोष** और **अघोष** नामक दो प्रकार की ध्वनियों के भेद बताता है। घोष नामक ध्वनि में गुंजन अधिक होता है, अघोष में गुंजन की अपेक्षा तीखापन अधिक होता है।

प्रयोग में विभिन्न प्रकार के पात्र कार्य करते हैं। इन पात्रों के लिए उस काल में मूलतः दो प्रकार की भाषाओं का विधान किया गया था। एक **संस्कृत** तथा दूसरी **प्राकृत**। उत्तम श्रेणी के पात्रों द्वारा संस्कृत भाषा का प्रयोग किया जाता था। सेवक, दासियाँ तथा अधम कोटि के पात्रों द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग किया जाता था। शास्त्र के अध्याय १४ में संस्कृत और प्राकृत भाषा का विधान करके भरत अन्य पात्रों के प्रयोग हेतु भाषा में विविधता लाने के ध्येय से अध्याय १७ के श्लोक ३० में अतिभाषा,

आर्यभाषा, जाति भाषा तथा योन्यन्तरी नामक चार भाषाओं के उच्चारण की प्रवृत्ति की चर्चा भी करता है।

वर्ण अर्थात् अक्षरों के संयोग से **पद** अर्थात् शब्दों की रचना होती है। भरत शास्त्र के अध्याय १४ के श्लोक ३९ में पहले **चूर्णपद** और **निबद्धपद** नामक पदों के दो भेद करता है। वह कहता है कि सामान्य अर्थ वाला शब्द निबद्धपद कहलाता है और जिस शब्द से व्यंजना का विस्तार हो वह चूर्ण पद कहलाता है।

इसी अध्याय के श्लोक २५ से शास्त्रकार पद के तत्त्वों का विवेचन प्रारम्भ करता है। पद के १२ तत्त्व निर्धारित करते हुए वह १ - स्वर, २ - व्यंजन, ३ - वर्ण, ४ - सन्धि, ५ - विभक्ति, ६ - नाम, ७ - आख्यात, ८ - उपसर्ग, ९ - निपात, १० - तद्धित, ११ - समास तथा १२ - प्रत्यय की व्याख्या करता है। इन तत्त्वों का शास्त्र में विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। पश्चात् शास्त्रकार श्लोक ४६ से एक अक्षर से २६ अक्षरों द्वारा बनाये जाने वाले पदों की व्याख्या करता है। जैसे एक अक्षर वाला पद 'उक्त' कहलाता है, दो अक्षर वाला '**अत्युक्त**' तीन अक्षर का '**मध्य**' चार अक्षर का '**प्रतिष्ठा**' पाँच का '**सुप्रतिष्ठा**' छः अक्षर का '**गायत्री**' सात का '**उष्णिक**' आठ का '**अनुष्टुप**' इसी क्रम में भरत २६ अक्षर के पद तक की व्याख्या करता है।

अध्याय १७ के श्लोक ५९ से वह पात्रों को स्पष्ट करता है कि देश के विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं के उच्चारण में वहाँ की क्षेत्रीय ध्वनियों का प्रभाव मिश्रित रहता है। पात्र जिस क्षेत्र का हो, उसे अपने उच्चारण में इन ध्वनियों को मिश्रित कर लेना चाहिए। क्षेत्रीय प्रभावों के लिए भरत कहता है कि भाषाएँ **एकारबहुला**, **नकारबहुला**, **चकारबहुला**, **उकारबहुला** तथा **ओकारबहुला** हुआ करती हैं।

उच्चारण, ध्वनि तथा पद-रचना के साथ-साथ वह उच्चारण को संयमित बनाने के लिए षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद नामक सात स्वरों की योजना करता है।

इसी सन्दर्भ में भरत चार प्रकार की वृत्तियों की चर्चा करता है। इनके

नामों की चर्चा प्रयोग के ११ तत्त्वों में की जा चुकी है। इनके नाम भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी हैं। लगता है वृत्तियों का नाट्य से बहुत प्राचीन सम्बन्ध रहा है। वृत्तियों के माध्यम से प्रयोग के विभिन्न रूपों के व्यवहार में आने वाली वाचन-शैली का सम्बन्ध शास्त्र में बताया गया है। भारती वृत्ति का प्रयोग प्रायः पुरुष किया करते हैं। ये शैली संस्कृत पाठ प्रधान है और भरत लोग इसका पहले से प्रयोग करके आ रहे हैं। अतः इसे शास्त्राकार ने भारती वृत्ति कहा है।

वाचिक के अन्तर्गत शास्त्रकार छन्द-रचना की शिक्षा भी देता है। वह शास्त्र के बत्तीसवें अध्याय में ११० प्रकार के छन्द बनाने की विधि बताता है।

वाचिक से सम्बन्धित भरत चार प्रकार की प्रवृत्तियों की चर्चा करता है। भरत सारे देश में चार प्रवृत्तियों को प्रधानता देता है, जिनके माध्यम से वह चारों क्षेत्र के निवासियों की भाषा, आचरण एवं व्यवहार का विवेचन करता है। इन्हें शास्त्र में आवन्ती, पांचाली, औद्रमागधी तथा दक्षिणात्या कहा गया है।

वाचिक अभिनय का प्रत्येक शब्द भावों को जागृत करे इसलिए भरत काव्य की सुन्दरता बढ़ाने वाले **काव्यालंकारों** पर भी प्रकार डालता है। वह काव्य की सुन्दरता के लिए उपमा, दीपक, रूपक और यमक नामक अलंकारों की योजना करता है। शास्त्र के अध्याय १६ के श्लोक ४० में वह यह चर्चा प्रारम्भ करता है और आगे इन चार अलंकारों के १५ भेद और कर देता है। **काव्य के ३६ लक्षणों** का विवेचन अध्याय १६ में बहुत विस्तार से करते हुए वह इसी अध्याय के श्लोक ८७ में पहले काव्य के दस **दोष** गिनाता है। इन्हें वह १ - गूढ़ार्थ, २ - अर्थान्तर, ३ - अर्थहीन, ४ - भिन्नार्थ, ५ - एकार्थ, ६ - अभिलुप्तार्थ, ७ - न्यायादपेत, ८ - विषम, ९ - विसन्धि तथा १० - शब्दच्युत कहता है।

इसी क्रम में वह श्लोक ९५ से काव्य के **१० गुण** बताना प्रारम्भ करता है। इन्हें वह १ - श्लेष, २ - प्रसाद, ३ - समता, ४ - समाधि, ५ - माधुर्य, ६ - ओज, ७ - सुकुमारता, ८ - सार्थव्यक्ति, ९ - उदारता तथा

१० कान्ति कहता है। वह १८ प्रकार के छन्द गीतों का विधान करता है, ६५ प्रकार के छन्द वृत्त समझाता है और ७ प्रकार के छन्दाक्षरों की चर्चा करता है।

आगे वह ऐसा प्रसंग लेता है जिसका सम्बन्ध प्रयोगज्ञ तथा कथानक लेखक दोनों से है। वह इस प्रसंग में कथानक के भेद, उनकी रचना का विधान तथा उस विधान के अंगोपांगों का विस्तार से वर्णन करता है। वह कहता है कि कथानक **आधिकारिक** और **प्रासंगिक** दो प्रकार का होता है। उसमें पाँच सन्धियाँ, पाँच कार्यावस्थाएँ तथा पाँच अर्थ प्रकृत्तियाँ होती हैं। सन्धियों के ६४ **अंग** और २१ **सन्ध्यान्तर** होते हैं। वाचिक के प्रत्येक अंग की यदि गणना करें तो ये ४५५ से भी अधिक हैं, जिन पर भरत ने बारीकी से चिन्तन मनन प्रस्तुत किया है। उसका वाचिक **इन्टोनेशन**, **मोड्यूलेशन**, **टोन**, **पिच**, **प्रोजेक्शन** तथा **रेंडरिंग** तक सीमित नहीं, उसका वाचिक आधुनिक फोनोटिक्स, लिँग्विस्टिक्स, फिलोलोजी, सिमेन्टिक्स, म्यूजिक आदि से भी आगे बढ़ा हुआ शास्त्र है।

आहार्य •

आहार्य अभिनय का तीसरा प्रकार है। शास्त्र में इसकी चर्चा इक्कीसवें अध्याय से प्रारम्भ होती है। पात्रों की साज-सज्जा से सम्बन्धित प्रत्येक पक्ष का इसमें विशद वर्णन किया गया है। इसे शास्त्र में कई स्थानों पर नेपथ्य भी कहा गया है। पात्रों की साज-सज्जा का सारा काम नेपथ्य में होता है तथा मंच पर कृत्रिम हाथी, घोड़े, ऊँट आदि दिखाने वाली वस्तुएँ भी नेपथ्य में रखी जाती हैं। अतः इसके लिए नेपथ्य शब्द उचित ही है।

आहार्य अभिनय के 'नाट्यशास्त्र' में प्रारम्भ में चार भेद किए गए हैं। इन्हें क्रमशः **पुस्त**, **अलंकार**, **अंगरचना** तथा **सज्जीव** कहा गया है। पुस्त के सम्बन्ध में भरत अध्याय २१ के श्लोक ६ में कहता है कि हाथी, विमान, पर्वत, यान आदि के मंच पर कृत्रिम रूप दिखाये जाते हैं अतः इसे पुस्त कहा जाता है।

पुस्त तीन प्रकार के कहे गए हैं - **सन्धिम**, **व्यंजिम** और **वेष्टिम**

संधिम पुस्त को स्पष्ट करते हुए शास्त्राकार का कथन है कि जो भी मंच के उपकरण या सामग्री सरकण्डे, चमड़े तथा कपड़ों से बनायी जाएँ उसे संधिमपुस्त कहा जाता है। मंच के जो प्रसाधन यन्त्रों के द्वारा बनाए जाएँ उन्हें **व्यंजिम पुस्त** कहा जाता है।लपेट-लपेट कर बनाये जाने वाले समस्त मंच उपकरण **वेष्टिम पुस्त** कहलाते हैं। इसी प्रसंग में वह आगे वेष्टिम पुस्तों के **१ -वेष्टिम, २ - वितत ३ - संघात्य, ४ - ग्रन्थिम** और **प्रालम्बित** नामक ५ भेद कर देता है। इनसे सम्बन्धित अनेक प्रकार की वस्तुओं को बनाने की विधि का भरत समझाकर वर्णन करता है।

अलंकार के अन्तर्गत वह स्त्री और पुरुष पात्रों द्वारा धारण किए जाने वाले अनेक प्रकार के आभूषणों की चर्चा करता है।राजा को, रानी को, मन्त्री को, राजकुमार को, देवताओं को, दानवों को किस प्रकार के आभूषण पहनने चाहिए आदि-आदि। प्रयोग में चूँकि लोकव्यापी हर प्रकार के अच्छे-बुरे पात्र दिखाये जाते हैं अत: उनके रंग-रूप, पहनावा, वस्त्र आदि किस प्रकार दिखाने चाहिए।

अलंकारों के सम्बन्ध में चर्चा करते समय सबसे पहले वह बताता है कि पात्र की साज-सज्जा के लिए ४ प्रकार के आभूषण हुआ करते हैं। अध्याय २१ के श्लोक ११ में वह इनका विवरण देते हुए इन्हें १ - **आवेध्य**, २ - **बन्धनीय**, ३ - **क्षेप्य** तथा ४ - **आरोप्य** नाम देता है।

आवेध्य नामक आभूषण वे कहलाते हैं जो खाल का वेधन करके धारण किए जाते हैं। अर्थात् कान के कुण्डल, झुमके, नाक की नथ, बुलाख आदि। ये छेद में डालकर पहने जाते हैं। अत: आवेध्य श्रेणी के आभूषण कहे जाते हैं।

बन्धनीय आभूषण वह कहलाते हैं, जिन्हें बाँध कर पहना जाता है, जैसे भुजबन्ध, कवच, कर्धनी, पायल आदि। क्षेप्य नामक आभूषण वह कहलाते हैं, जिन्हें पहनाकर दबा दिया जाता है, जैसे पाँव के नूपुर, आनवट, मुद्रिकाएँ, आरसी, कंगन, कड़े तथा सिर के झुमके, टीका आदि और आरोप्य अलंकार वे कहलाते हैं जिनका ऊपर से आरोपण किया जाता

है, जैसे हार, माला, एकावली, सिर की किरीट, मुकुट, यज्ञोपवती आदि। भरत विभिन्न प्रकार के आभूषणों के नाम शास्त्र में गिनाता है और साथ ही यह भी निर्देश देता है कि प्रयोग में सदैव कृत्रिम और हलके अलंकारों का प्रयोग करना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि भारी जेवर पहनने से पात्र थकान का अनुभव करें और मूर्च्छित होकर मंच पर गिर जायें। आभूषण लाख, चपड़ा, कागज, हल्की धातु आदि के बनाने चाहिए, नगों के लिए अभ्रक का प्रयोग करना चाहिए। अभ्रक के पीछे लाल, हरा, पीला रंग लगा देना चाहिए।

इसके बाद शास्त्रकार अंगरचना अर्थात् मुखसज्जा को लेता है, जिसे आजकल **मेकअप** कहा जाता है। भरत इस विषय के अन्तर्गत मुख-सज्जा से सम्बन्धित भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले भिन्न-भिन्न प्राणियों के रंगों की चर्चा करता है। उनके वर्ण दिखाने के लिए रंगों को बनाने की विधि पर विस्तार से प्रकाश डालता है। वह कहता है कि मूल रंग पीला, लाल, नीला, तथा सफेद होते हैं। इनको मिलाकर तरह-तरह के रंग बन जाते हैं। रंगों के मिलान का अनुपात भी वह बताता है कि अमुक रंग बनाने के लिए एक भाग अमुक रंग, दो भाग अमुक रंग मिलाने चाहिए। अनुपात कम ज्यादा करके, वर्ण, उपवर्ण और अपवर्ण बनाये जा सकते हैं। गौरवर्ण दिखाने के लिए रंग अमुक विधि से बनाया जाना चाहिए, श्याम वर्ण के लिए अमुक विधि से बनाया जाना चाहिए। भारतीय खनिज और वनस्पतियों से वह हरा, पीला, नीला, लाल, भूरा, काला, कत्थई, बैंगनी, गुलाबी आदि सारे रंग बनाने की विधियाँ स्पष्ट करता है। वह बताता है कि पाँचाल क्षेत्र के पात्रों का वर्ण ऐसा तथा द्रविड़, कोसल व आवन्ती के लोगों का वर्ण ऐसा दिखाना चाहिए।

अंग-रचना में पात्रों के वर्ण निश्चित करने के बाद वह पात्रों के मूँछ-दाढ़ी लगाने की चर्चा करता है। वह कहता है कि बाल चार प्रकार के होते हैं। इन्हें वह क्रमशः श्याम अर्थात काले, श्वेत अर्थात् सफेद, मिश्र अर्थात काले-सफेद मिश्रित, तथा रोमश अर्थात भूरे कहता है। इनसे पात्रों के मूँछ और दाढ़ी व सिर के बाल बनाने-लगाने की विधि बताता है।

पात्रों के माथे पर विभिन्न प्रकार के तिलक लगाने की विधियों पर भरत विस्तार से प्रकाश डालता है। अंग-रचना के अन्तर्गत नेत्रों की सज्जा के निर्देश देता है, दाँतों की सज्जा की विधियाँ बताता है। कपोलों की सज्जा के लिए '**पत्र-लेखा**' की योजना करता है। साथ ही भृकुटियों के ऊपर छोटे पुष्प और पत्तियाँ काढ़कर '**भ्रू-गुच्छ**' बनाने की विधियाँ बताता है।

इसके पश्चात् अध्याय २१ के श्लोक संख्या १२२ में वह पात्रों की **वस्त्र-सज्जा** का विवेचन करता है। वस्त्रों के वह तीन भेद करता है और इन्हें क्रमशः १ - शुद्ध, २ - विचित्र और ३ - मलिन नामक तीन श्रेणियों में. विभाजित कर देता है। शुद्ध वस्त्रों के अन्तर्गत वह साधु, सन्यासी, ऋषि तथा मुनियों के वस्त्रों की गणना करता है। विचित्र के अन्तर्गत रंगीन और तड़क-भड़क वाले कपड़ों की गणना करता है। मलिन के अन्तर्गत दीन-दुखी, याचक, सेवक, छोटे स्तर के पात्रों के साथ-साथ विरहनी-नायिका आदि को रखता है।

आहार्य अभिनय के वर्णन में भरत पात्रों के **मुकुट** आदि को भी विस्मृत नहीं करता। वह तीन प्रकार के मुकुट बताता है। इन्हें वह १ - किरीटन, २ - मस्तकिन, तथा ३ - पार्श्वगत कहता है। जो मुख्यमुकुट में छोटे-छोटे मुकुट जोड़े जायें अथवा साधारण पात्रों के सिर पर छोटे मुकुट लगाये जायें, वे किरीटन कहलाते हैं। मस्तकिन नामक मुकुट माथे पर टिकाकर पहनाये जाते हैं तथा पार्श्वगत सिर के पीछे के अथवा बगल के भाग में पहनाए जाते हैं।

आहार्य अभिनय के पुस्त, अलंकार तथा अंग-रचना के बाद भरत **सज्जीव** नामक चौथे भेद का विवेचन प्रस्तुत करता है। सज्जीव के सम्बन्ध में शास्त्र के अध्याय २१ के श्लोक ४ में शास्त्रकार का कथन है कि मंच पर चार पाँव वाले पशु, आकाश में उड़ने वाले पक्षी, प्रकृति की बहुत सी जड़ वस्तुएँ अर्थात वृक्ष आदि पात्र के रूप में दिखाने पड़ते हैं। उन्हें सदैव सज्जीव के माध्यम से दिखाना चाहिए। चतुष्पद अर्थात् पशु दिखाने के लिए पात्र को उस पशु का मुखौटा लगाकर, उसी के अनुसार वस्त्र और आकार ग्रहण करना चाहिए। एक पात्र को साथ लेकर ऐसा रूप बनाना चाहिए कि मंच पर उस पशु का आकर साकार होने लगे। ऊपर से कुछ वस्त्र आदि

ढक लेना चाहिए। पक्षियों के पात्र भी इसी विधि से बनाने चाहिए। पेड़ का पात्र दिखाने के लिए पात्र को सारे शरीर को कपड़े से ढक कर तना जैसा बना लेना चाहिए। ऊपर पत्तों का छोटा सा झुरमुट लगा लेना चाहिए-आदि-आदि।

पात्रों को प्रयत्नपूर्वक उसी प्रकार की चाल का या उड़ने जैसा चलने का अभ्यास करना चाहिए। पक्षियों व पशुओं की भूमिका करते समय उनके मुखौटे मुँह पर लगा लेने चाहिए। मुखौटे बनाने की विधि का निर्देश भी शास्त्र में विस्तार से दिया गया है। मुखौटे के लिए शास्त्र में '**घटी**' शब्द का प्रयोग किया गया है और उनके बनाने के लिए अंगुल का माप निर्धारित किया गया है। अमुक मुखौटा इतने अंगुल चौड़ा और इतने अंगुल लम्बा रखना चाहिए। इतने अंगुल माथा छोड़कर किसी पैनी वस्तु से आँखों के छेद इतने अंगुल की दूरी पर करने चाहिए-आदि-आदि।

पर्वत, नदी, रथ, विमान, सागर आदि निर्जीव वस्तुओं का मानवीकरण करके उन्हें भी प्रतीक रूप में मंच पर प्रस्तुत करने के शास्त्र में विशद् निर्देश दिए गए हैं। भरत स्वयं कहता है कि मंच पर हाथी, घोड़े, विमान तथा नदी, पर्वत सागर, यान, वृक्ष आदि प्रत्यक्ष प्रदर्शित नहीं किए जा सकते। इसलिए इनके प्रतीक बनाकर इन्हें मंच पर प्रस्तुत करना चाहिए। सज्जीव के अन्तर्गत ये समस्त विधान सरलता से दिखाये जा सकते हैं।

आहार्य अभिनय के अन्तर्गत वह बारीक से बारीक बातों का वर्णन करता है। यहाँ संक्षेप में उनकी चर्चा भर की जा रही है। यदि पूरे विवरण को लें तो प्रत्येक पक्ष पर एक विशाल ग्रन्थ की अलग से रचना की जा सकती है। उसने तो यहाँ तक लिखा है कि किन-किन पात्रों के बैठने के लिए किस प्रकार के आसनों अथवा सिंहासनों या चौकियों का प्रयोग करना चाहिए। जैसे वेत्रासन, दण्डासन, स्वर्णासन, रौप्यासन, काष्ठासन मसूरकआसन, आदि। राजा के अमुक, मन्त्री के लिए अमुक, राजकुमार के लिए अमुक, पुरोहित के लिए अमुक, वेश्या के लिए अमुक, अतिथि के लिए अमुक आसन का प्रयोग करना चाहिए।

सात्त्विक अभिनय •

अभिनय के चार भेदों में सात्त्विक अभिनय भरत की दृष्टि में बहुत महत्वपूर्ण ही नहीं, करने में बहुत कठिन भी है। अभिनय के आंगिक, वाचिक और आहार्य का सम्बन्ध बाहरी वस्तुओं से है लेकिन सात्त्विक का सम्बन्ध सूक्ष्म मनोभावों से है। मन का सम्बन्ध नाना प्रकार के स्त्री-पुरुषों के स्वभाव, प्रकृति और आदतों से है। अतः अन्दर की बात व्यक्त करना बहुत जटिल क्रिया है। संसार के जीवों के मन में सुबह से शाम तक हजारों प्रकार के भाव उठते रहते हैं, मनुष्य मन ही मन न जाने क्या-क्या सोचता रहता है। उसके अन्दर के भावों को अभिनय में शास्त्रबद्ध करना, नियम और विधियों में बाँधना सचमुच बहुत कठिन काम है।

इतना जटिल होते हुए भी भरत अध्याय २२ में प्रयोगकर्त्ताओं को यह चेतावनी दे देता है कि सत्त्वयुक्त अभिनय ही श्रेष्ठ कोटि का होता है। जिस अभिनय में सत्त्व का प्रयोग कुछ कम हो जाता है, वह मध्यम कोटि का होता है और जिसमें सत्त्व का योग न हो, वह अभिनय अधम कोटि का होता है।

प्रश्न यह है कि सत्त्व अर्थात् मन जब अव्यक्त है, दिखाई देने वाली वस्तु नहीं, तब उसका दृश्यशील अभिनय में प्रयोग कैसे किया जावे? भरत के चिन्तन की गहराई इससे पता लगती है कि वह इस रहस्य को खोलते हुए कहता है कि हर व्यक्ति के मन में सत्त्व सदैव स्थित रहता है। पराये पात्र या वस्तु की कल्पना करते ही सत्त्व से भाव उत्पन्न होते हैं। जिस पात्र की भूमिका करनी होती है, उसकी कल्पना करते ही भाव से हाव उत्पन्न होने लगते हैं। और आगे जाकर हाव से हेला। मनुष्य के हृदय में रहने वाले भाव असंख्य होते हैं, किन्तु अभिनय में केवल ४९ भावों के द्वारा मन की हर बात को सरलता से व्यक्त किया जा सकता है। इन भावों में ८ स्थायी भाव, ३३ संचारी या व्यभिचारी भाव तथा ८ सात्त्विक भाव प्रधान हैं। इनके संयोग से मुखज अभिनय में लगभग २१६ मुद्राएँ बन जाती हैं, जो मानव की प्रत्येक मनःस्थिति या मनोदशा को साकार कर सकती हैं। भरत की यह अत्यन्त सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक उपलब्धि है, जो शाश्वत तो है ही देश

काल के बन्धनों से भी मुक्त है। हर युग में, हर देश में इनका सदैव यही रूप बना है और बना रहेगा।

भरत सात्विक अभिनय के अन्तर्गत उससे सम्बन्धित व्यक्त होने वाले भावों का विधान एक-एक करके प्रयोगज्ञों को समझाता है। भरत की यह विशेषता है कि वह जिस विषय को लेता है, उसका हर दृष्टि से ऐसा क्रमबद्ध विवेचन करता है कि उससे कुछ छूट नहीं पाता'

भरत इस प्रसंग में **सामान्य अभिनय**, **चित्राभिनय**,**सुकुमार अभिनय**, **आविद्ध-अभिनय**, **स्त्रियों के शील** तथा **पात्र-प्रकृति** नामक शीर्षक निर्धारित करता है। इस प्रसंग में यह समझना आवश्यक है कि जिसे भरत ने सामान्य अभिनय कहा है वह नाम से लगता है कि कोई बहुत सामान्य बात होगी, किन्तु जब वह उस विषय का विवेचन करता है, तब पता लगता है कि वह असाधारण और विशेष प्रकार का अभिनय है।

सामान्य अभिनय के भरत अभिनय अलंकारों के आधार पर तीन भेद करता है। इन्हें शास्त्र के अध्याय २२ श्लोक संख्या ५ में **अंगज**, **अयत्नज** तथा **स्वाभाविक** कहता है। इन तीन रूपों को वह अभिनय का अलंकार कहता है। इनके प्रयोग से अभिनय उच्चकोटि का तथा प्रभावशाली बन जाता है। अभिनय को चमत्कृत करने वाले अलंकारों का सम्बन्ध बाह्य और आभ्यंतर दोनों रूपों से है, क्योंकि जो कुछ आन्तरिक भाव से उत्पन्न होकर व्यक्त होगा, वह पात्र के शरीर द्वारा साकार होगा। अतः भरत सामान्य अभिनय के प्रारम्भ में ही बाह्य और आभ्यंतर दो भेद स्थापित कर देता है। दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए वह कहता है कि भूमिका करने वालों के शरीर और आकृति में अन्तर रहता है। भूमिका करते समय अभिनय के जिस अलंकार का प्रयोग कोई पात्र दाँयी ओर मुख करके करे, उसी का प्रयोग दूसरा पात्र बाँये मुख खड़ा होकर कर सकता है, कोई बैठकर कर सकता है कोई सीधा खड़े होकर कर सकता है। अतः पात्र के शरीर से सम्बन्धित होने के कारण वह इन्हें अभिनय के **अंगज** अलंकार कहता है। इनकी संख्या भरत ने छः बताई है। इनके नाम १ - वाक्य, २ - सूच्य, ३ - अंकुर, ४ - शाखा, ५ - नाट्यायित तथा ६ - निवृत्यंकुर रखे गये हैं।

इसी प्रसंग में वह आगे **अयत्नज** अलंकारों की चर्चा करता है। इनके सम्बन्ध में भरत कहता है कि पात्र जब मनोयोग के साथ अभिनय करता है, तब ये अभिनय अलंकार पात्र के मुख पर बिना प्रयत्न किए दिखाई देने लगते हैं। इसीलिए इन्हें अयत्नज कहा गया है। ये अलंकार स्त्री और पुरुष दोनों के अभिनय में दिखाई देते हैं। अयत्नज अभिनय के अलंकारों में भरत स्त्रियों के ७ तथा पुरुषों के ८ अलंकार बताता है।

स्त्रियों के **सात अयत्नज अलंकारों** के नाम शास्त्र में इस प्रकार दिए गए हैं। १ - शोभा, २ - कान्ति, ३ - दीप्ति, ४ - माधुर्य, ५ - धैर्य, ६ - प्रगल्भ, तथा ७ - औदार्य। पुरुषों के आठ अयत्नज अलंकारों के नाम इस प्रकार हैं। १ - शोभा, २ - विलास, ३ - माधुर्य, ४ - स्थैर्य, ५ - गाम्भीर्य, ६ - ललित, ७ - औदार्य और ८ - तेज। आज के युग में हम अभिनेता के 'स्टिल' खींचने के समय, उसकी 'ऐन्ट्री' के समय, उठने और बैठने के समय 'लुक' के समय कहते हैं थोड़ा ग्रेस लाइये, कुछ डल हो रहा है। थोड़ा एक्सप्रेशन ब्राइट कीजिए, थोड़ा एक्शन में रिद्म और लाइये आदि-आदि। भरत ने इन सारी क्रियाओं को नाम देकर, इन्हें बनाने के लिए विधान तैयार कर दिया था।

उसने स्त्रियों और पुरुषों के अयत्नज अलंकारों में पुरुष के दूसरे अलंकार को बदला। स्त्री का दूसरा अलंकार कान्ति अर्थात् चेहरे पर चमकती आँखें थीं, मुख पर हल्की मुस्कराहट की रेखा थी। इसी के विपरीत पुरुष के दूसरे अलंकार विलास में पुरुष की भोगमूलक वृत्ति का प्रदर्शन था, अर्थात् संसार की समस्त वस्तुओं के भोग का उत्साह। स्त्री का तीसरा अलंकार दीप्ति, अर्थात् चेहरे का दमदमाना है तो पुरुष का माधुर्य अर्थात् चेहरे पर मधुरता, स्त्री का ५ वाँ अलंकार धैर्य अर्थात धीरज है तो पुरुष का गम्भीरता। पुरुष में एक अलंकार तेज अधिक है। सच्चे, साहसी और गुणवान व्यक्ति के मुख पर तेज दिखाई देना ही चाहिए। इसी के विपरीत स्त्री के मुख पर उदारता और सुन्दरता खेलती रहनी चाहिए।

इसके पश्चात शास्त्रकार **स्वाभाविक** अलंकारों की चर्चा करता है। इनके सम्बन्ध में वह स्पष्ट कर देता है कि इनका मूल सम्बन्ध स्त्रियों के मनोभावों से है। प्रत्येक नायिका जो अपने प्रेमी से प्रेम करती है, उसकी

मनोदशा के ये रूप बहुत ही स्वाभाविक हैं।

भरत स्त्रियों के स्वभाव से सम्बन्धित दस स्वाभाविक अलंकारों की चर्चा करता है। इनके नाम वह इस प्रकार बताता है १ - लीला, २ - विलास, ३ - विच्छिति, ४ - विभ्रम, ५ - किलकिंचित, ६ - मोट्टायित, ७ - कुट्टमित, ८ - बिब्बोक, ९ - ललित, १० - विहृत। इनके लक्षण स्पष्ट करते हुए भरत कहता है कि जब कोई प्रेमिका मन में प्रेम का भाव लिए, मधुर वाणी में सजधज कर अपने प्रेमी की क्रियाओं की नकल करती है, वह लीला कहलाता है। जब नायिका प्रेमी को देखकर इठलाती चाल चलती है, रूठने का झूठा अभिनय करती है वह विलास कहलाता है। प्रेमिका के वस्त्र, मालायें तथा आभूषणों के अस्त-व्यस्त हो जाने पर नायिका की वह छटा विच्छिति कहलाती है। जब प्रेमी के प्रति मन में शंका उत्पन्न हो जाये और भ्रमवश प्रेमिका की बोली, शरीर की चेष्टाएं कभी वासना और कभी हर्ष उत्पन्न करने लगें, वह दशा विभ्रम कहलाती है। जब अधिक प्रसन्नता के कारण प्रेमिका के मुख परं कभी मुस्कान, कभी रुदन, कभी गर्व, कभी हास्य और कभी भय छलकने लगे, वह अलंकार किलकिंचित कहलाता है। जब प्रेमी के प्रसंगों को सुनकर प्रेमिका उछलने लगे, उसके शरीर के अंग फड़कने लगें स्त्रियों का वह अलंकार मोट्टायित कहलाता है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों में प्रेमिका की विभिन्न मनोदशाओं का वर्णन भरत ने किया है।

सुकुमार अभिनय की योजना विशेष रूप से स्त्रियों के स्वभाव एवं उनकी प्रकृति से सम्बन्धित है। शास्त्रकार ने स्त्रियों की भिन्न-भिन्न आदतों को ध्यान में रखते हुए उनके स्वरूप को स्पष्ट किया है। इसे वह **स्त्रियों के शील** की संज्ञा देता है। स्त्रियों के २२ प्रकार के शीलों की चर्चा भरत ने शास्त्र के अध्याय २२ के श्लोक संख्या ९२ से प्रारम्भ की है। इन २२ शीलों के माध्यम से भरत ने स्त्रियों के स्वभाव, प्रकृति तथा चारित्रिक लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिनसे पाठक की कल्पना तुरन्त साकार हो उठती है। वह २२ शीलों के नाम इस प्रकार बताता है - १- देव, २ - दानव, ३ - गान्धर्व, ४ - राक्षस, ५ - नाग, ६ - पक्षी, ७ - पिशाच, ८ - यक्ष, ९ - सिंह, १० - पुरुष, ११ - वानर,

१२ - हाथी, १३ - मृग, १४ - मछली, १५ - ऊँट, १६ - मकर, १७ - गधा, १८ - सूकर, १९ - घोड़ा, २० - भैंस, २१ - बकरी और २२ - गऊ।

भरत का भाव स्पष्ट करने के लिए इनमें से कुछ **शीलों के लक्षण** स्पष्ट किए जा रहे हैं। पूरे २२ के लक्षण दें तो विषय का बहुत विस्तार हो जाएगा।

देव नामक शील वाली स्त्री के लक्षण स्पष्ट करते हुए भरत कहता है कि देव जैस शील रखने वाली स्त्री कोमलांगी होती है। उसकी दृष्टि स्थिर तथा विनम्र होती हैं। वह रति के लिए मध्यम भाव रखती है, स्वल्प आहार ग्रहण करती है, सुन्दर गन्धों और पुष्पों को प्यार करती है। साथ ही गायन-वादन उसे प्रिय होते हैं।

दानवशीला स्त्री अधर्म पर चलने वाली, सदा क्रोध करने वाली, हृदय की कठोर, मदिरा और माँस की प्रेमी, अभिमान करने वाली, अस्थिर तथा क्रूर स्वभाव वाली होती है। **बकरीशीला** स्त्री के सम्बन्ध में भरत कहता है कि जिस स्त्री का शरीर पतला हो तथा हाथ पैर पतले हों, जिसकी आँखें ललाई लिए हों, शरीर पर छोटे रोंये हों, डरपोक और कमजोर हो, तैरना जिसे पसन्द हो और जिसे वनों में घूमना पसन्द हो, चंचल चपल तेज चलने वाली हो, ऐसी स्त्री को बकरी शीला समझना चाहिए। **गऊशीला** स्त्री के सम्बन्ध में भरत कहता है कि जिस स्त्री के कूल्हे भारी और उठे हुए हों, जाघें पतली हों, स्वजनों की प्रिय हो, जिसके हाथ-पाँव छोटे हों, दृढ़ निश्चय वाली हो और बच्चों को प्रिय हो, पितृ और देवताओं की पूजा करती हो और स्वच्छन्द रहती हो, गुरुजनों को आदर देती हो, विश्वासपात्र हो और क्लेशों को शान्ति से सहन करती हो ऐसी स्त्री को गऊशीला कहा जाता है।

भरत सात्त्विक अभिनय के सन्दर्भ में केवल लोक के प्राणियों के स्वभाव तथा चारित्रिक लक्षणों के निरीक्षण तक ही नहीं जाता, वह इन चरित्रों की भूमिका करने वाले पात्रों के अभिनय की प्रकृति के विश्लेषण तक पहुँचता है। वह अध्याय २६ के श्लोक १ में पात्रों की ३ प्रकार की

प्रकृति बताता है। इन्हें वह **अनुरूपा विरूपा** तथा **रूपानुरूपा** कहता है। प्रकृति के ये तीन रूप पात्र द्वारा अभिनीत किए जाने वाले पक्ष से सम्बन्धित हैं।

भरत पात्रों की प्रकृति के इन तीनों रूपों की परिभाषा देते हुए कहता है कि भूमिका करने वाले व्यक्ति की आयु और शारीरिक अवस्था यदि उस पात्र के अनुरूप है, जिसकी वह भूमिका कर रहा है तो उस पात्र प्रकृति को अनुरूपा कहा जाता है। जैसे कोई १६ वर्ष की सुन्दर सुडौल और प्रियदर्शिनी कन्या सीता की भूमिका करे तो वह अनुरूपा प्रकृति कहलायेगी। जब कोई अधिक आयु की स्त्री उस भूमिका को करेगी तो वह विरूपा कहलाएगी। अथवा कोई लड़का सीता बनकर भूमिका करे तो वह पात्र-प्रकृति विरूपा कहलायेगी। रूपानुरूपा के सम्बन्ध में भरत कहता है कि जब कोई स्त्री-पुरुष तथा स्त्री दोनों के मनोभावों का अभिनय करे अथवा कोई बालक बच्चे तथा बूढ़े दोनों के मनोभावों का अभिनय करे अथवा कोई बालक बच्चे तथा बूढ़े दोनों के भावों को प्रदर्शित करे तो वह पात्र प्रकृति रूपानुरूपा कहलाती है।

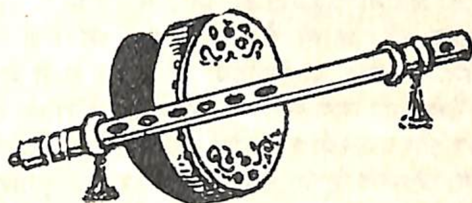
सात्त्विक अभिनय का क्षेत्र बहुत व्यापक है। ४९ प्रकार के भावों में भरत ८ सात्त्विक भावों की चर्चा करता है। उनकी चर्चा हम रस के प्रकरण में करेंगे। इन भावों के नाम १ - स्तम्भ, २ - स्वेद, ३ - रोमांच, ४ - स्वरभेद, ५ - वेपथु, ६ - वैवर्ण्य, ७ - अश्रु और ८ - प्रलय हैं। यह सत्य है कि इनका सम्बन्ध सत्त्व से है, किन्तु ये सब दृश्यशील हैं।

सात्त्विक अभिनय की महत्ता स्पष्ट करते हुए भरत निर्देश देता है कि **जिस प्रकार जीव एक शरीर को त्याग कर अन्य शरीर में प्रवेश करके उसके अनुरूप कार्य करने लगता है, उसी प्रकार भूमिका करने वाले पात्र को मंच पर प्रवेश करने से पूर्व अभिनीत करने वाले पात्र का मानसिक स्मरण करना चाहिए और उसी मनोदशा में उस पात्र जैसी वाणी और आंगिक चेष्टायें सम्पन्न करनी चाहिए।**

भरत का अभिनय मानव के मनोविज्ञान की मुद्रासापेक्ष्य प्रस्तुति है। नाटक में कथानक होता है। कथानक की व्यंजना पात्रों के माध्यम से होती

है पात्रों के मनोभाव अभिनय से व्यक्त होते हैं। भरत का अभिनय इतना विस्तृत है कि उसका सम्बन्ध लेखक, प्रयोगकर्त्ता तथा प्रेक्षकों की सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोदशाओं के जटिल कार्य-व्यापार के ताने-बाने से जुड़ा हुआ है।

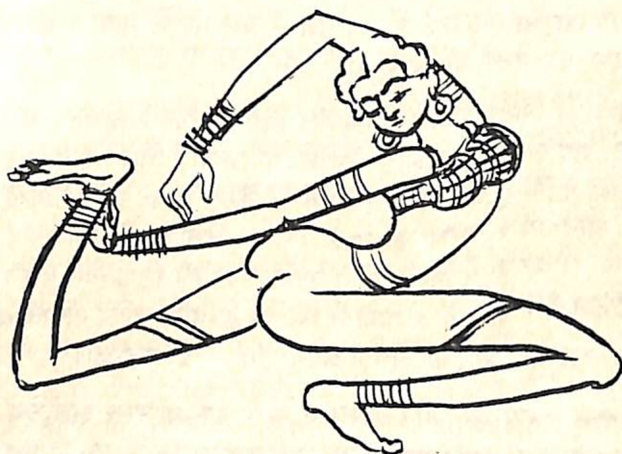
भरत की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि उसने मन के अमूर्त विज्ञान को रूपायित करने की ऐसी शाश्वत व्याकरण बना दी, जैसे महर्षि पाणिनि ने संस्कृत की व्याकरण बनाई थी। भरत द्वारा रचित अभिनय की व्याकरण पाणिनि की व्याकरण की ही भाँति शाश्वत और सम्पूर्ण है। भरत के बाद से अद्यतन कितने ही नाट्यशास्त्री हुए, किन्तु इसमें किंचित भी परिवर्तन नहीं कर सके। भरत के द्वारा प्रतिपादित अभिनय एक तत्त्व नहीं अपितु जीवन्त परम्परा है, सम्पूर्ण विश्व के नाट्य-जगत की चेतना सत्ता का सशक्त उदाहरण है।



अध्याय पाँच

रस और भाव

रसों के जन्म की यह प्रक्रिया दरअसल "नाट्यशास्त्र" का संक्षिप्त सा वर्णन नहीं अपितु मानव-सभ्यता के विकास की कहानी है।इतना ही नहीं, मानव के मनोभावों के विकास की कहानी है। हिन्दू-धर्म के ग्रंथ देखें, मुसलमानों के देखें या ईसाइयों के देखें। सभी में यह उल्लेख देखने को मिलता है कि इस संसार में सबसे पहले एक पुरुष और एक स्त्री का संयोग हुआ। उनके मन में रति का भाव उत्पन्न हुआ, जो कालान्तर में श्रृंगार-रस कहलाया।



सर्वशास्त्रार्थ सम्पन्न सर्वशिल्पप्रवर्तकम् ।
नाट्याख्यं पंचमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ।।

१-१५

यह सारे शास्त्रों से सुसम्पन्न तथा सारे शिल्पों का प्रवर्तक सिद्ध होगा। मैने यह पंचम वेद रूपी नाट्य ऐसा बनाया है।

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम् ।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ।।

१-१४

यह धर्म, अर्थ, यश तथा सदोपदेशों का संग्रह है जो लोक के समस्त कर्मों का दर्पण सिद्ध होगा।

रस 'नाट्यशास्त्र' की इतनी महत्वपूर्ण देन है कि इस पर हर शताब्दी में अगणित आचार्य ग्रन्थ लिखते रहे हैं। **काव्यशास्त्र**के विद्वानों ने इसका अनेक प्रकार से विशद् वर्णन किया है। इतना ही नहीं कुछ आचार्यों ने इसे **काव्य की आत्मा** तक कह डाला। देश में जब भी जो भाषा प्रचलित हुई, उनमें रस पर ग्रन्थ पर ग्रन्थ रचे जाते रहे।

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में रस का विवेचन छटवें अध्याय में प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि शास्त्र का छटवाँ अध्याय विशेष रूप से रस पर लिखा गया है किन्तु यह भी सत्य है कि पूरे शास्त्र में वह अन्य विषयों से भी रस का अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ता है।रस पर चर्चा करते समय यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि भरत ने दृश्य-काव्य की शिक्षा देते हुए रस का वर्णन किया था। बाद के आचार्यों ने रस का सम्बन्ध काव्य अर्थात् श्रव्य से जोड़कर रस की व्याख्या अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत की।

भरत ने रस को अपने शास्त्र में न तो **ब्रह्मानन्द सहोदर** बताया और न विभाव के **आलम्बन** तथा **उद्दीपन** नामक उसके दो भेद किये। रस की ये परिभाषायें बाद के आचार्यों की दी हुई हैं।

रस का स्वरूप -

भरत रस की चर्चा प्रारम्भ करते हुए कहता है कि रस के बिना प्रयोग के किसी भी अंग की सही जानकारी या अनुभूति नहीं हो सकती। रस कोई स्थूल वस्तु नहीं। इसका आनन्द मात्र मानसिक स्तर पर होता है। भरत शास्त्र में **आठ रसों** की गणना करता है।आठ रसों के स्थायी भाव बताता है। रसों के आठ देवता तथा आठ वर्ण भी बताता है। रस का आस्वादन लेने की विधि का विवेचन करता है और रस की निष्पत्ति के विधान पर प्रकाश डालता है। **भरत का रस मानसिक आस्वादन की वस्तु है।**

वैसे लोक में नवरस प्रचलित हैं। नवें रस के रूप में **शान्त रस** की चर्चा की जाती है। काव्यशास्त्रीय परम्परा में सभी आचार्यों ने रस आठ के बजाय नौ बताए हैं। यही कारण है कि लोक में नवरस प्रचलित हैं।

'नाट्यशास्त्र' में भी आठ रसों की व्याख्या के बाद शान्त रस की चर्चा की गई है।शान्त रस से सम्बन्धित शास्त्र में साढ़े पाँच श्लोक दिए गए हैं

किन्तु इन श्लोकों पर क्रमिक संख्या नहीं है। इनसे पहले तथा बाद के श्लोकों में श्लोक संख्या दी गई है।दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि शान्त रस के साढ़े पांच श्लोकों के बाद वाले श्लोक में कहा गया है "**इत्यष्टौ रसा: स्मृता:**'। अर्थात् ये आठ रस कहे जाते हैं।

गहन अध्ययन करने से बात साफ हो जाती है कि शान्त रस के श्लोक भरत के मूल नहीं, वे बाद में जोड़े गए हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि शान्त रस का प्रवर्तन **अभिनव गुप्त** द्वारा किया गया। ग्रन्थ को देखने से लगता भी है कि यह कार्य अभिनव गुप्त ने ही किया होगा। अभिनव गुप्त अपनी टीका में **शान्त को नया रस बताता है**। साथ ही उसे भय है कि उसकी मान्यता धूमिल न पड़ जाए इसलिए वह एक काम और करता है। अन्य रसों की टीका में यदि वह '**अभिनव भारती**' में एक पृष्ठ लिखता है तो शान्त रस की टीका लिखते समय वह अनुपात को भूल जाता है और पृष्ठ पर पृष्ठ लिखता चला जाता है।अभिनव गुप्त ने शान्त रस का स्थायी भाव '**शम**' या '**निर्वेद**' बताया है। भरत ने भी '**निर्वेद**' नामक भाव की चर्चा की है। भरत ने '**निर्वेद**' नामक भाव की गणना **व्यभिचारी भावों** में की है। उसके अनुसार ३३ प्रकार के संचारी भावों में **सबसे पहला संचारी** '**निर्वेद**' है।

कुछ विद्वानों का मत है कि चूँकि शान्त रस के साढ़े पाँच श्लोक 'नाट्यशास्त्र' के मूल पाठ में ही लिखित हैं, अत: शान्त रस का प्रवर्तक भी भरत ही है। यदि भरत स्वयं शान्त रस का प्रवर्तक होता तो वह जब आठ रसों के आठ देवताओं के नाम बताता है, आठ रसों के आठ रंगों का उल्लेख करता है तब शान्त रस नामक नवें रस के देवता का उल्लेख भी अवश्य करता, इस रस का वर्ण भी बताता। भरत केवल आठ रसों वे आठ देवता तथा आठ रसों के आठ वर्ण ही बताता है।

इसके अलावा शास्त्र के सातवें अध्याय में भरत यह बताता है कि किस रस में किन भावों का प्रयोग किया जाता है। वहाँ भी वह आठ रसों के साथ प्रयोग में आने वाले भावों की चर्चा करता है। नवें रस के प्रयोग में आने वाले भावों का कोई उल्लेख नहीं करता।

इस प्रसंग में सबसे ज्यादा मजे की बात यह है कि अभिनव गुप्त रस नामक छटवें अध्याय की व्याख्या करते समय नवें रस के रूप में शान्त रस की चर्चा करता है। उसका महत्व बताने के लिए लम्बी व्याख्या ही नहीं करता अनेक ग्रन्थों के उदाहरण प्रस्तुत करता है, किन्तु जब वह 'नाट्यशास्त्र' की टीका लिखते हुए उन्तीसवें अध्याय पर पहुँचता है तब उसे भरत के आठ रसों के सिद्धान्त के समक्ष झुक जाना पड़ता है। वह स्वयं अनुभव करता है कि प्रयोग में शान्त रस का व्यवहार नहीं किया जा सकता। वह २९ वें अध्याय के श्लोक संख्या १३ के बाद के भाग की व्याख्या करते हुए स्वयं लिखता है '**न शान्त रस प्रधानता प्रयोगस्य भवति**' टीका लिखते समय प्रारम्भ में अभिनव गुप्ताचार्य के मन में अनेक भ्रान्तियाँ रही हैं। कुछ अन्य प्रसंग भी 'नाट्यशास्त्र' में ऐसे हैं, जिनसे अभिनव गुप्त की भ्रान्तियाँ स्पष्ट होती हैं।

रसों का विकास -

भरत कहता है कि पहले **श्रृंगार**, **रौद्र**, **वीर** तथा **बीभत्स** नामक चार रसों की उत्पत्ति हुई। बाद में **श्रृंगार रस से हास्य** का, **रौद्र से करुण** का, **वीर** रस से **अद्भुत** का और **बीभत्स** से **भयानक** रस का जन्म हुआ।

रसों के जन्म की यह प्रक्रिया दरअसल **नाट्यशास्त्र** का संक्षिप्त सा वर्णन नहीं अपितु मानव-सभ्यता के विकास की कहानी है। इतना ही नहीं, मानव के मनोभावों के विकास की कहानी है। हिन्दू-धर्म के ग्रन्थ देखें, मुसलमानों के देखें या ईसाईयों के देखें।सभी में यह उल्लेख देखने को मिलता है कि इस संसार में सबसे पहले एक पुरुष और एक स्त्री का संयोग हुआ। उनके मिलन से सृष्टि का विकास हुआ। हिन्दू ग्रन्थों में प्रथम पुरुष और प्रथम स्त्री का नाम मनु और शतरूपा बताया गया है, मुसलमानों के धर्म ग्रन्थों में आदम और हौवा तथा ईसाइयों के बाइबिल में एडमेन और ईव।

सृष्टि के हरे-भरे आंगन में जब इस प्रथम युगल का मिलन हुआ होगा, तब एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हुए दोनों के हृदय में रति भाव

जाग्रत हुआ होगा। भरत ने श्रृंगार रस के स्थायी भाव का नाम रति बताया है। दोनों के संयोग के समय जब कोई व्यवधान आया होगा तो स्वाभाविक रूप से मन में क्रोध उत्पन्न हुआ होगा। भरत ने रौद्र रस के स्थायी भाव का नाम क्रोध बताया है। भविष्य में रति-क्रीड़ा के समय व्यवधान उत्पन्न न हो इस ध्येय से उन्होंने जंगल से घास-फूँस, पेड़-पत्र तोड़कर कुटिया बनाई होगी। कुटिया या सुरक्षित स्थान बनाने के लिए मन में उत्साह जाग्रत होना स्वाभाविक है और भरत वीर रस के स्थायी भाव का नाम उत्साह बताता है। प्रकृति द्वारा उत्पन्न वृक्षावलियों तथा हरित वनस्पतियों के मुरझाये तथा ध्वस्त रूप को देखकर मन में जुगुप्सा के भाव का जन्म हुआ होगा, जो बीभत्स रस का स्थायी भाव कहा गया है। इस सन्दर्भ में यह तथ्य विचारणीय है कि वह सृष्टि का प्रथम पुरुष था। उसके आस-पास फैली प्राकृतिक सुषमा का जन्मदाता वह नहीं था। तब तक वह यह भी नहीं जानता था कि किस वनस्पति का बीज कैसा होता है, कब बोया जाता है? उसने अपने आनन्द के लिए उस हरियाली से जाने क्या-क्या तोड़कर अपना सुरक्षित स्थान बनाया होगा। ऐसी दशा में उसके हृदय में प्रकृति सौन्दर्य के क्षत-विक्षत रूप को देखकर मन में घृणा का भाव का जन्म होना स्वाभाविक था।

भरत के रसों का विकास-क्रम मानव के स्वाभाविक एवम् प्राकृतिक विकास के साथ-साथ उसके मनोभावों के विकास को प्रस्तुत करता है। लगता है इस विषय पर भरत से पूर्व ही पर्याप्त चिन्तन-मनन किया जा चुका था। लम्बे चिन्तन के निष्कर्ष निकाले जा चुके थे और भरत से बहुत पूर्व ही रस के सिद्धान्त भी बनाये जा चुके थे। कारण यह है कि भरत रस के अध्याय में अनेक स्थानों पर ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिन्हें वह वंश-परम्परा से प्राप्त बताता है। एक स्थान पर वह **'रस विचार'** नामक एक ग्रन्थ के आमुख से एक उदाहरण प्रस्तुत करता है। इन बातों से स्पष्ट होता है कि रस की परम्परा भरत के 'नाट्यशास्त्र' से बहुत पूर्व ही स्थापित हो चुकी थी।

भरत ने पूर्ववर्ती परम्परा को आदर सहित स्वीकार किया और अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार अपने ग्रन्थ में रस के स्वरूप का विवरण

प्रस्तुत किया। रस की प्राचीन परम्परा का आभास इस बात से भी होता है कि इसका विवेचन अधिकांशतः गद्य में किया गया है। यद्यपि प्राचीन कुछ कथ्य पद्य में हैं।

भरत कहता है कि श्रृंगारमूलक क्रियाओं के अनुकरण से हास्य रस उत्पन्न हुआ। रौद्र से करुण की उत्पत्ति हुई, वीर रस से अद्भुत रस पैदा हुआ और बीभत्स रस से भयानक रस का जन्म हुआ। चार मूल रसों से अन्य चार रसों की उत्पत्ति का सिद्धान्त भी उसी विकासवादी सिद्धान्त पर आधारित है, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। अन्तर यह है कि इस विधान में क्रिया और प्रतिक्रिया सम्मिलित हैं।

श्रृंगार रस के अनुकरण से हास्य की उत्पत्ति का अर्थ है कि प्राणी ने कभी किसी अन्य जीवधारी की रति-क्रीड़ा का अनुकरण करने की चेष्टा की हो अथवा अपने ही क्रीड़ा-विलास का स्मरण करके किसी क्षण उन क्रियाओं का अनुकरण किया हो। ऐसी स्थिति में हँसी आना स्वाभाविक है।

इसी प्रकार जब एक प्राणी को क्रोध आया, उसने क्रोध में किसी को क्षति पहुँचायी। एक की विजय हुई दूसरे की पराजय। पराजित व्यक्ति के प्रति दर्शक के मन में करुणा का भाव जाग्रत होना स्वाभाविक है। इस प्रसंग में यह बात ध्यान रखने की है कि उस समय का मानव आदिम स्थिति का था। तब तक उसके मन में ईर्ष्या, कलह, नीति-रीति की भावना विकसित नहीं हुई थी।

वीर रस का स्थायी भाव शास्त्र में उत्साह बताया गया है और वीर रस से अद्भुत रस की उत्पत्ति मानी गयी है। इसका आशय यह है कि जब किसी व्यक्ति के मन में कोई दुष्कर कार्य करने के लिए उत्साह जाग्रत हुआ, उसने जान की बाजी लगाकर उसे कर डाला। वह किसी पर्वत की चट्टान को काटकर मार्ग बनाने का काम रहा हो अथवा झोंपड़ी की सुरक्षा के लिए किसी कंटीले पेड़ की टहनियों से बाड़ा बनाने की योजना। जब उसने कठिन काम कर डाला तो उसे देखकर दर्शक को आश्चर्य हुआ होगा। विस्मय के भाव का रस अद्भुत बताया गया है।

भरत कहता है कि बीभत्स रस से भयानक रस का जन्म हुआ। इसमें भी प्रतिक्रिया का सिद्धान्त स्पष्ट है। प्रकृति या पुरुष के कुत्सित एवम् घिनौने रूप को देखकर दर्शक के मन में यह भाव उत्पन्न हो सकता है कि यदि मेरा रूप भी ऐसा ही हो जावे तो क्या होगा? मानव मन की इस भावना का नाम भरत ने भय रख दिया। क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया, कर्म और कारण, आचरण और उसके प्रभाव ने मानव के मन में इन मनोदशाओं को जन्म दिया। सभ्यता के विकास के साथ-साथ इनके लक्षण और स्वरूप की व्याख्याएँ की गईं।

दरअसल मानव के मन की ये मनोदशाएँ देशकाल निरपेक्ष हैं। ये भाव आदिम मनुष्य में थे, तो आज भी हर देश के, हर वर्ग के, हर क्षेत्र के मनुष्यों के मन में विद्यमान हैं। हर्ष, क्रोध, भय, घृणा, विस्मय, शोक आदि ऐसी शाश्वत मनोदशाएँ हैं, जो हर युग के मानव में सदैव विद्यमान रही हैं और अनन्त काल तक रहेंगी। भरत के पूर्वजों ने मनुष्य की इन मनोदशाओं को समझकर इन्हें व्यवस्थित स्वरूप प्रदान कर दिया तथा इनके नाम रख दिए।

सभ्यता के विकास के साथ जैसे-जैसे मनुष्य में बौद्धिक चेतना आती गयी उसके जीवन का कार्य क्षेत्र बढ़ता गया। यही बात भरत के रस सम्बन्धी विवेचन में हुआ। भरत ने नाट्यशास्त्र में श्रृंगार रस के तीन भेद किए। इन्हें शास्त्र में **धर्म श्रृंगार अर्थ श्रृंगार** तथा **काम श्रृंगार** कहा गया। इसी प्रकार हास्य के **आद्यांग**, **अंगज** तथा **विप्रहास्य** नामक तीन रूप बताए। रौद्र रस के भी **रूपात्मक-रौद्र**, **अंगात्मक-रौद्र** तथा **स्वभावात्मक-रौद्र** नामक ३ भेद कहे गये हैं। करुण रस के ३ रूपों का सम्बन्ध **धर्म-हानि**, **अर्थ-हानि** तथा **शोक** से जोड़ा गया। वीर रस के **दानवीर**, **धर्मवीर** तथा **युद्धवीर** नामक ३ भेद किए गए।

भयानक रस के ३ भेद करते हुए उन्हें **निन्दा-भय**, **अपराध-भय** और **पीड़ा-भय** कहा गया है। बीभत्स के ३ भेदों में **क्षोभ से उत्पन्न उद्वेग**, **विष्ठा तथा कृमि** तथा **रुधिरजनित** बीभत्स कहा गया। अतः ३ प्रकार की घृणा बताई गई हैं। अद्भुत के २ भेद करते हुए **दिव्य दर्शन से विस्मय** तथा **हर्षजनित आनन्द** नामक दो भेद किए गये हैं। इस विधान

के द्वारा भरत ने ८ रसों के २७ भेद कर दिए हैं। अन्य रसों के ३, अभ्दुत के २ हास्य के ६ भेद और श्रृंगार के संयोग तथा वियोग मिला कर रसों के २८ भेद हो जाते हैं।

विकसित अवस्था के बाद शास्त्रकार ने आठ रसों का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया। पहला श्रृंगार, दूसरा हास्य, तीसरा करुण, चौथा रौद्र, पाँचवा वीर, छटवाँ भयानक, सातवाँ बीभत्स और आठवाँ अभ्दुत। इन रसों के देवता और वर्ण भी शास्त्र में बताए गए हैं।

रस	देवता	वर्ण	स्थायी भाव
१- श्रृंगार	विष्णु	श्याम	रति
२- हास्य	प्रमथ	सफेद	हास
३- करुण	यम	भूरा	शोक
४- रौद्र	रुद्र	लाल	क्रोध
५- वीर	इन्द्र	गोरा	उत्साह
६- भयानक	काल	काला	भय
७- अभ्दुत	ब्रह्मा	पीला	विस्मय
८- बीभत्स	महाकाल	नीला	जुगुप्सा

श्रृंगार के देवता विष्णु तथा वर्ण श्याम बताया गया। हास्य के देवता प्रमथ तथा वर्ण सफेद बताया गया। करुण के देवता यम तथा रंग कबूतर जैसा बताया गया। रौद्र के देवता रुद्र तथा रंग लाल बताया गया। वीर के देवता इन्द्र तथा रंग गोरा बताया गया। भयानक के देवता काल तथा रंग काला बताया गया। बीभत्स के देवता महाकाल तथा रंग नीला बताया गया। इन सभी देवताओं में विष्णु, रुद्र, ब्रह्म तथा इन्द्र के नाम सामान्य हैं। हास्य के देवता प्रमथ ऐसे देवता हैं, जिनसे लोग परिचित नहीं हैं। प्रमथ भगवान शंकर के एक गण का नाम है। इसी प्रकार भयानक के देवता काल तथा बीभत्स के देवता महाकाल का अन्तर स्पष्ट करना कठिन है। पुराण-साहित्य को देखने पर इन दोनों देवताओं के स्वरूप का अन्तर स्पष्ट नहीं हो पाता। उज्जैन में यद्यपि महाकाल का मंदिर है, किन्तु उससे महाकाल का मूल स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। वहाँ एक शिवलिंग है, जिसका सिंगार कर दिया जाता है। इसी प्रकार यम नामक देवता की मूर्ति या मन्दिर कहीं देखने को नहीं मिलता।

रसों के देवताओं का विवरण देखने से पता लगता है कि देवताओं की कल्पना बहुत प्राचीन है और रसों के देवताओं के नाम भी अलग-अलग कालों के प्रतीक हैं। रुद्र वैदिककालीन देवता हैं, इसी प्रकार इन्द्र भी वैदिककाल के देवता हैं, किन्तु प्रमथ आदि का नाम वैदिक साहित्य में भी देखने को नहीं मिलता।

भाव -

भरत रस के सन्दर्भ में भावों को महत्वपूर्ण मानता है। वह कहता है कि **भावों के बिना रस नहीं है और रस के बिना भावों का कोई महत्त्व नहीं**. है। ये एक दूसरे पर आश्रित हैं और प्रयोग की सिद्धि में एक दूसरे के सहायक बनकर काम करते हैं।

भावों की व्याख्या करने के लिए शास्त्र में सातवाँ अध्याय लिखा गया है। किन्तु भाव का स्वरूप वह आगे एक स्थान पर स्पष्ट करता है। भरत अध्याय २५ के श्लोक ४१ में कहता है कि **आत्मानुभवं** ही भाव है। अर्थात् भाव को मनुष्य का आत्मानुभव कहें, स्वानुभव कहें या आज की भाषा में अनुभूति कहें।

अनुभूति मूर्त वस्तु नहीं, सूक्ष्म तत्त्व है। भरत का विषय दृश्य-काव्य होने के कारण मूर्त है। अतः भरत जब अपने विषय से भावों को जोड़ता है तब भाव शब्द को यथावत् न लेकर उसका रूप बदल देता है। उसे **स्थायी भाव व्यभिचारीभाव सात्विक भाव विभाव** तथा **अनुभाव** आदि के नामों से सम्बोधित करता है।

भरत के मस्तिष्क में भावों की परिकल्पना बहुत स्पष्ट है। वह जब भाव को दृश्यशील कला के साथ जोड़ता है तब वह यह भी निश्चित कर देता है कि कौन से भाव ऐसे हैं, जिनकी संख्या निश्चित नहीं की जा सकती।

वह स्थायी भावों की संख्या ८ बताता है। आठ रसों के आठ स्थायी भाव हैं। श्रृंगार का स्थायी भाव रति है, हास्य का हास, करुण का शोक, रौद्र का क्रोध, वीर रस का उत्साह, भयानक का भय, बीभत्स रस का जुगुप्सा तथा अद्भुत का विस्मय।

इनके बाद वह तैंतीस **व्यभिचारी भावों** की गणना करता है। भरत के समय व्यभिचारी शब्द का अर्थ दुराचारी नहीं था। इस शब्द की रचना 'चर' धातु से हुई जिसका अर्थ था चलने वाले। अर्थात् चलने वाले भाव। भरत इसी दृष्टि से शास्त्र में इनके लिए व्यभिचारी के स्थान पर संचारी भाव शब्द का प्रयोग भी करता है।

तैंतीस व्यभिचारी भावों के नाम वह इस प्रकार गिनाता है। १ - निर्वेद, २ - ग्लानि, ३ - शंका, ४ - असूया, ५ - मद, ६ - श्रम, ७ - आलस्य, ८ · दैन्य ९ - चिन्ता, १० - मोह, ११ - स्मृति, १२ - धृति, १३ - क्रीड़ा, १४ -चपलता, १५ - हर्ष, १६ - आवेग, १७ - जड़ता, १८ - गर्व, १९ - विषाद, २० - उत्सुकता, २१ - निद्रा, २२ - अपस्मार, २३ - सुप्त, २४ - विबोध, २५ - अमर्ष, २६ - अवहित्थ, २७ - उग्रता, २८ - मति, २९ - व्याधि, ३० - उन्माद, ३१ - मरण, ३२ - त्रास तथा ३३ - वितर्क। अभिनय करते समय ये भाव पात्र के मुख पर पल-पल में आते-जाते रहते हैं, बनते-बिगड़ते रहते हैं अत: इन्हें व्यभिचारी या संचारी कहा गया है।

दिखाई देनेवाले भावों में इनके बाद सात्त्विक भावों का उल्लेख शास्त्र में किया गया है। भरत इनकी संख्या ८ बताता है। इनके बारे में भरत कहता है कि सात्त्विक भावों का सम्बन्ध मन से है। प्राणी की देह में सत्त्व रहता है, अवसर आने पर सत्व से भाव की उत्पत्ति होती है। भरत का मत है कि सात्त्विक भावों का अभिनय बहुत दुष्कर है। कभी-कभी प्रयत्न करने पर भी इनका अभिनय सम्पन्न नहीं हो पाता। भरत इनके नाम शास्त्र में इस प्रकार बताता है।

१ - स्तम्भ, २ - स्वेद, ३ - रोमांच, ४ - स्वरभंग, ५ - वेपथु, ६ - विवर्णता, ७ - अश्रु तथा ८ - प्रलय।

स्तम्भ का अर्थ है जड़वत् हो जाना, स्वेद का पसीना आना, रोमांच का अर्थ है रायें कांटे की तरह खड़े हो जाना, स्वरभंग का अर्थ है गला घिर आना कि मुँह से कुछ का कुछ निकलने लगे, वेपथु का अर्थ है काँपने लगना, विवर्णता का अर्थ है मुँह का रंग लाल, पीला या काला पड़ जाना, अश्रु का

अर्थ आँखों से आसूँ गिरना तथा प्रलय का अर्थ है मूर्च्छित हो जाना।

इस प्रकार भरत ८ स्थायी भाव, ३३ व्यभिचारी भाव तथा ८ सात्त्विक भावों को मिलाकर भावों की संख्या ४९ बताता है। इन ४९ भावों का सम्बन्ध वह दृश्यशीलता से जोड़ता है। अर्थात् अभिनय करते समय यह ४९ भाव किसी न किसी रूप तथा किसी न किसी क्रम में प्रयोग में आते रहते हैं।

भरत जानता है कि अभिनय में अनेक प्रकार की मनोदशाओं का प्रदर्शन करना होता है। अतः वह अगली सीढ़ी पर पहुँच कर भावों का एक अन्य रूप प्रस्तुत करता है। लगता है सैंकड़ों वर्षों के प्रयोग के बाद भरतों ने भावों के पूरे रहस्य को अन्त तक समझ लिया था और उनकी नियमबद्ध व्याकरण रचना कर दी थी। भरत ने कहा कि हर भाव हर रस में इस्तेमाल नहीं किया जाता। वह बताता है कि किस रस में कौन-कौन से भावों का प्रयोग किया जाता है। इस विवरण में वह भूमिका करने वाले के मुख पर एक साथ दो भावों का संयोग कराता है।

भरत का कथन है कि श्रृंगार रस के अभिनय में ४९ भावों में से आलस्य, उग्रता तथा जुगुप्सा नामक ३ भावों का प्रयोग नहीं किया जाता। विप्रलम्भ श्रृंगार में निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, उत्सुकता, निद्रा, स्वप्न, विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जड़ता तथा मरण नामक भावों का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् अभिनय में पात्र के मुख पर श्रृंगार के स्थायी भाव रति के साथ-साथ इनमें से भी अपेक्षित भाव साकार होने चाहिए। मतलब यह है कि पात्र के मुख पर दुहरे भाव दिखाई देने चाहिए! जैसे वियोग श्रृंगार में वह प्रथम भाव निर्वेद बताता है तो पात्र के मुख पर वियोग श्रृंगार भी दिखे, साथ ही निर्वेद भी।

हास्य रस के प्रसंग में वह कहता है कि ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चपलता, सुप्त, निद्रा, तथा अवहित्थ नामक भावों का प्रयोग किया जाता है।

करुण रस के अन्तर्गत निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, उत्सुकता, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास,

आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा स्वर भेद नामक भावों का प्रयोग किया जाता है।

रौद्र रस के अन्तर्गत गर्व, असूया, मद, उत्साह, आवेग, अमर्ष, क्रोध, चपलता, तथा उग्रता नामक भावों का मिश्रण किया जाता है।

वीर रस के अन्तर्गत धृति, उत्साह, आवेग, हर्ष, मति, उग्रता, अमर्ष, मद, रोमांच, स्वर भेद, क्रोध, असूया, विबोध, गर्व तथा वितर्क नामक भावों का संयोग किया जा सकता है।

भयानक रस के अन्तर्गत स्वेद, वेपथु, रोमाँच, स्वर भेद, वैवर्ण्य, शंका, मोह, दैन्य, आवेग, चपलता, जड़ता, त्रास, अपस्मार तथा मरण नामक भावों का संयोग किया जाता है।

बीभत्स रस के अन्तर्गत अपस्मार, उन्माद, विषाद, मद, मरण, व्याधि तथा भय नामक भावों का संयोग किया जाता है।

अद्‌भुत रस के अन्तर्गत अपस्मार, उन्माद,विषाद, मद, मरण, व्याधि तथा भय नामक भावों का संयोग किया जाता है।

अद्‌भुत रस के अन्तर्गत स्तम्भ, स्वेद, मोह, रोमांच, विस्मय, आवेग, जड़ता, हर्ष तथा मूर्च्छा नामक भावों का मिश्रण किया जा सकता है।

यदि भरत द्वारा बताए गए सम्पूर्ण भावों की गणना करें तो कुल मिलाकर २१५ मुखज मुद्राएँ बनती हैं। भरत का मत है कि इन २१५ मुखज मुद्राओं के द्वारा मानव मन की प्रत्येक मनःस्थिति को सरलता से उजागर किया जा सकता है। इन २१५ मुखज मुद्रओं में ६ मुद्राएँ हास्य की भी सम्मिलित हैं। इनमें ५५ मुखज मुद्राओं में मुख पर इकहरा भाव दिखाई देता है। शेष में दुहरे भाव रहते हैं।

अब तनिक इस बात पर विचार करें कि भरत रस और भावों के काम को अभिनय के साथ कैसे और क्यों जोड़ता है? जब वह स्वयं स्वीकार करता है कि रस और भाव दिखने वाली वस्तुएँ नहीं है। तब दिखाई देने वाली कला में इनका प्रयोग आवश्यक क्यों मानता है?

भरत कहता है कि प्रदर्शन काल में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी अर्थात् संचारीभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत का यह

मत एक क्रिया विशेष का विधान है, जिसमें वह विभाव और अनुभावों की चर्चा करता है।

विभाव और अनुभाव कोई विशेष प्रकार के भाव न होकर भावों की क्रियाओं से सम्बन्धित शब्द हैं। यदि ये अन्य भावों जैसे होते तो भरत इनकी भी संख्या निर्धारित कर देता। पर वह इनकी संख्या नहीं बताता साथ ही इन्हें रस निष्पत्ति का अनिवार्य अंग मानता है। वह कहता है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की उत्पत्ति और अनुभूति होती है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर देता है कि यह क्रिया प्रयोग काल में सम्पन्न होती है।

स्थायी भाव -

काव्य-शास्त्र के अनेक आचार्यों ने स्थायी-भाव की व्याख्या अपने मतानुसार दी है। देखा जाए तो इस शब्द से हमारा परिचय कराने वाला भरत है। भरत ने इसकी चर्चा करते हुए सर्वप्रथम यह स्पष्ट किया है कि स्थायी-भाव सारे भावों में प्रमुख हैं। उदाहरण प्रस्तुत करते हुए भरत ने कहा है कि जैसे मनुष्यों में राजा तथा शिष्यों में गुरू का स्थान सबसे ऊपर रहता है, उसी प्रकार सारे भावों में स्थायी-भाव का स्थान सर्वोपरि है।

स्थायी-भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी-भाव, सात्विक-भाव मिलकर भावों का एक परिवार है। परिवार के सभी प्राणियों के हाथ, पाँव तथा शरीर के अंग यद्यपि एक जैसे होते हैं; किन्तु पूरे परिवार का प्रधान अपने गुणों के कारण कोई एक मनुष्य ही होता है। उसी प्रकार स्थायी भाव भी अपने विशेष गुणों के कारण प्रधान होता है। काव्य शास्त्रियों का कहना है कि स्थायी-भाव ही पुष्ट होकर रस रूप में परिवर्तित होता है।

मूल प्रश्न यह है कि स्थायी भाव का जन्म दाता कौन है? यह कब, कहाँ और कैसे उत्पन्न होता है? साथ ही इसका नाम स्थायी भाव ही क्यों रखा गया है?

भरत ही इसका उत्तर देता है। वह कहता है कि किसी कथा की रचना करते समय कवि या रचनाकार के मानसिक लोक में भांति भांति के भाव उत्पन्न होते हैं। रचना के समय वह भाव-लोक में अनेक प्रकार की

कल्पनायें करता है; किन्तु उनमें से जिनको वह लेखनी से कागज पर उतार देता है, काव्य के रूप में उन्हें साकार कर देता है, वे स्थायी भाव कहलाते हैं। कागज पर लिपिबद्ध होकर कवि के हृदय जगत के भाव स्थायित्व पा जाते हैं। देश और काल के बदल जाने पर भी वे मूल भाव उसमें स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। उस रचना को जब भी कोई व्यक्ति पढ़ता है, जिस युग में पढ़ता है, उन शब्दों के माध्यम से उसे उन्हीं भावों की अनुभूति होती है।

उदाहरण के लिए कालिदास ने '**अभिज्ञान शाकुन्तलम्**' नाटक में शकुन्तला की आश्रम से विदाई के समय महर्षि कण्व से कहलाया '**अर्थोहि कन्या परकेय इव**' इन शब्दों में कालिदास ने कण्व के शब्दों में करुणा भर दी। बेटी की विदाई के समय प्रत्येक अभिभावक का हृदय शोक संतप्त हो उठता है। कालिदास ने शोक के भाव को शब्दों में बाँध दिया। वे भाव सदा-सदा के लिए उसकी कृति में समाहित होकर उस समय के लिए स्थायी हो गए, जब तक वह रचना इस संसार में रहेगी। उस रचना को जिसने भी, जब भी पढ़ा होगा या आगे पढ़ेगा, उसे उस प्रसंग में शोक नामक स्थायी भाव की ही अनुभूति होगी।

प्रदर्शन के समय स्थायी भाव रूपी यही अनुभूति अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देती है।कवि की कृति से चलकर यह आचार्य अथवा निर्देशक के मानसलोक में पहुँचकर अपने स्वरूप का उसे सम्यक ज्ञान कराती है। इसी प्रकार नट अथवा अभिनेता के भाव-लोक में पहुँचकर उसे कथ्य के परिवेश का ज्ञान कराती है। नट के कौशल में मूर्त होकर यह दर्शकों की भावनाओं को उस रंग में रंगती है।

विभाव -

भरत के अनुसार विभाव रसानुभूति की एक अदृश्य किन्तु अनिवार्य प्रक्रिया का अंग है। भरत ने विभाव शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह वाणी और शरीर को मूल शब्दों के अभिप्राय से जोड़ता है। विभावित करना और सुवासित करना, भरत ने समानार्थक शब्द बताए हैं। इसका अर्थ सरल भाषा में यह हुआ कि किसी चीज का किसी में रम जाना।

यदि विभाव शब्द में से 'वि' प्रत्यय हटाकर 'प्र' प्रत्यय लगा दें तो विभाग के स्थान पर यह शब्द प्रभाव बन जाता है। वर्तमान भाषा में प्रभाव शब्द प्रचलित है। अतः इसका अर्थ आसानी से समझ में आ जाता है।

भरत का विभाव से तात्पर्य यह है कि जो भी पात्र भूमिका कर रहा हो पहले उसका मन लेखक द्वारा रचित स्थायी-भाव से प्रभावित होना चाहिए।

जब तक पात्र, पाठक या निर्देशक का मन लेखक के मूल भाव से प्रभावित नहीं होता, वह उसकी प्रस्तुति नहीं कर सकता। इस विधान के द्वारा भरत पात्र के मनोयोग को उसके अभिनय के साथ जोड़ता है।

पात्र यदि लेखक के भाव को मात्र आंगिक चेष्टाओं से व्यक्त करें तो उसके अभिनय में और कठपुतली के अभिनय में कोई अन्तर नहीं रह जाता। या यों कहें कि लेखक के मूल भाव से प्रभावित हुए बिना, यदि शरीर की चेष्टाओं से अभिनय किया जाए तो वह मात्र यान्त्रिक होगा, उसमें जीवन्तता तो तभी आवेगी, जब पात्र का हृदय भी लेखक के मूल भाव के प्रभाव से ओत-प्रोत हो।

विभाव 'पर-भाव' से 'स्व-भाव' को प्रभावित करने का माध्यम है। यह एक प्रक्रिया है, जो प्रयोग काल में पात्र की मनः स्थिति को लेखक की मनः स्थिति में परिवर्तित करती है। यह प्रक्रिया प्रयोग काल में आरम्भ से अन्त तक चलती है। इस प्रक्रिया में भावों की कोई गणना नहीं होती। यही कारण है कि भरत ने अन्य भावों की भांति विभाव की कोई संख्या नहीं बताई।

अनुभाव -

अभिनय के द्वारा रस का उद्रेक करने की प्रक्रिया का यह विभाव से आगे का चरण है। भरत कहता है कि शाखा, अंग, उपांग और सत्त्व से संयुक्त पात्र की क्रिया अनुभाव कहलाती है।

शाखा नाट्य शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। नाट्यशास्त्र के बाईसवें

अध्याय के श्लोक ४७ में शाखा को अंगज अलंकारों के छः भेदों में से चौथा भेद बताया गया है। इसका अर्थ है कि प्राचीन परम्परा के अनुसार पात्र जब ग्रहण किए हुए भाव को छः अंगों, छः उपांगों तथा सात्त्विक अभिनय के द्वारा व्यक्त करे तो वह क्रिया शाखा कहलाती है। सरल भाषा में यह कहा जा सकता है कि लेखक के मूल भाव का पात्र के मन में विभावित होना बीज है और उस बीज से शाखा प्रस्फुटित होना अनुभाव है।

अनुभाव में छिपा 'अनु' शब्द स्वयं यह स्पष्ट करता है कि इस क्रिया में पात्र के विभावित हृदय में छिपे भाव को अनुकरण के द्वारा वाणी और अंग से व्यक्त करना है। अनुभाव वस्तुतः पात्र के द्वारा सम्पन्न की जाने वाली अनुकरण मूलक चेष्टायें हैं। इनके द्वारा वह लेखक के स्थायी भाव को अपने मनोयोग सहित चित्रात्मक स्वरूप प्रदान करता है, अमूर्त भाव को मूर्त बनाता है, उसे चित्रवत् बनाकर दर्शकों के लिए सार्वजनीन बना देता है। साथ ही अमूर्त भाव की मुद्रा सापेक्ष प्रस्तुति कर उसे निश्चित बिम्ब प्रदान करता हुआ, निश्चित अर्थ में बांध देता है।

व्यभिचारी या संचारी भाव -

अभिनय दरअसल चित्र नहीं होता अपितु चित्रों की चलती हुई कहानी होता है। एक-एक भाव अथवा मनोदशा को व्यक्त करते समय पात्र को अपने मुख पर अनेक भंगिमायें बदलनी पड़ती हैं। जैसे क्रोध दिखाने के लिए पात्र की कभी भौंह तनती है, अगले ही पल उसके नथुने फूलते हैं, उससे अगले पल वह दांतों को भींच लेता है, उसकी आँखें फैल जाती हैं और पुतलियां बाहर निकलती हुई सी लगती हैं। कभी पात्र मुट्ठी बाँध कर हुंकार मारता है, कभी भूमि पर जोरों से पांव पटकता है।

एक ही स्थायी भाव को व्यक्त करने के लिए पात्र को पल-पल में अंग और उपांगों की विभिन्न मुद्रायें बदलनी पड़ती हैं। दूसरी मुद्रा बनते ही पहली मुद्रा चली जाती है। पहली के जाते ही दूसरी आ जाती है। इसी कारण भरत ने इन्हें व्यभिचारी या संचारी भाव नाम दिया है। ये मुद्रायें अभिनय के समय संचरण करती रहती हैं।

कहा जा चुका है कि भरत ने व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस बताई

है। ये तैंतीस प्रकार की विशेष मुद्रायें हैं जो मन के भावों को उपाँगों के द्वारा सरलता से व्यक्त कर देती है।

३३ व्यभिचारी भावों के विधान को स्पष्ट करने के बाद भरत इन ३३ व्यभिचारी भावों के भेद समझाता है। शंका नामक व्यभिचारी भाव के वह 'आत्मसमुत्थ' और 'परसमुत्थ' नामक दो भेद बताता है। मद नामक भाव के वह उत्तम मद, मध्यम मद, तथा अधम मद नामक ३ भेद बताता है। व्याधि नामक भाव के अन्तर्गत भरत ज्वर के,शीत,ज्वर तथा दाह-ज्वर नामक दो भेदों के अभिनय की शिक्षा देता है। मरण नामक भाव के अन्तर्गत वह एक मृत्यु विष-वेग से बताता है। भरत कहता है कि यदि पात्र को विष-वेग से मृत्यु दिखाने का अभिनय करना है तो उसे ८ स्थितियाँ दिखानी चाहिये।

१ - शरीर में कृशता

२ - शरीर में कम्पन

३ - शरीर में जलन

४ - शरीर में तडपन-बेचैनी

५ - मुँह से झाग देना

६ - गर्दन का इठते जाना

७ - जड़ता

८ - मरण

अन्त में वह कहता है कि मैंने इनके जो विधान बताए हैं, वे मात्र विषय को समझने के आधार हैं। पात्रों को चाहिये कि वे देश-काल की स्थिति के अनुसार इनका प्रयोग करें। पात्र चाहे स्त्री हों या पुरुष, सभी को देश-काल की स्थिति पर विचार करके कार्य करना चाहिये।

भरत के अनुसार व्यभिचारी यद्यपि क्षणिक भाव हैं, जो मुख पर आते जाते रहते हैं, किन्तु भरत ने उन क्षणिक जीवी भावों के भी भेदों पर विचार किया है। यह उसकी महानता है कि वह इतना सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत करने

के बाद भी प्रयोगकर्ताओं को स्वतन्त्रता देता है कि भावों का प्रयोग करते समय देश-काल की स्थिति का ध्यान रखें और यदि आवश्यकता हो तो भावों में परिवर्तन कर लें।

सात्त्विक भाव -

सात्त्विक भावों का आधार स्पष्ट करने के लिए भरत इस प्रसंग में सबसे पहले सातवें अध्याय के श्लोक ३१ के बाद की कारिका में यह स्पष्ट कर देता है कि सत्व का अर्थ मन है। अर्थात् जहाँ भी मैं भावों के प्रसंग में सत्व शब्द का प्रयोग करता हूँ वहाँ मेरा अभिप्राय मन से है।

सात्त्विक भावों के द्वारा वह पात्र के मुख पर मन को साकार करना चाहता है। भरत जानता है कि यह कार्य बहुत कठिन है। इसीलिए वह अध्याय सात के श्लोक ९३ के बाद के **गद्य** में कहता है कि चेष्टा करने पर भी सात्त्विक भावों का अभिनय कभी-कभी बहुत दुष्कर हो जाता है। इसके लिए एक ही उपाय है कि पात्र को मन की समाधि में डूब जाना चाहिए।

आठ सात्त्विक भावों के नाम हम पहले बता आये हैं। इनका संयोग विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के साथ होता है। अभिनय में सत्व अर्थात् मन का योग होना भरत की दृष्टि में परम आवश्यक है, इसके अभाव में वह अभिनय को निर्जीव मानता है।

रस और भाव में अन्तर -

रस और भाव एक दूसरे के पूरक होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं। जहाँ तक दोनों के स्वरूप का सम्बन्ध है रस और भाव दोनों ही अमूर्त हैं। न रस दिखाई देता है और न भाव। रस का सम्बन्ध मानसिक आनन्द से है और भाव का सत्व से।

भावों का सम्बन्ध सांसारिक विषयों से है। संसार के किसी न किसी विषय के सम्पर्क में आते ही मन में भावों का जन्म होने लगता है। भाव दुखात्मक और सुखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। लौकिक जगत की स्थूल और सूक्ष्म वस्तुओं के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले भाग अगणित हो सकते हैं। संसार के विषय रजोगुण प्रधान, तमोगुण प्रधान तथा सतोगुण प्रधान कैसे भी हो सकते हैं।

रसों का सम्बन्ध सांसारिक विषयों से नहीं है। रस का सम्बन्ध स्थायी भाव से है। स्थायी भाव मानव मात्र की ८ शाश्वत मनोदशायें हैं। भाव जहाँ दुखात्मक और सुखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं, वहीं रस केवल सुखात्मक होता है। रस के क्षेत्र में करुण भी आनन्दमय अनुभूति बन जाता है। **भाव** अगणित हैं किन्तु रस केवल आठ ही रहते हैं। भावों का सम्बन्ध रजोगुण, तमोगुण तथा सतोगुण तीनों से हो सकता है; किन्तु रस का सम्बन्ध केवल सतोगुण से है। भावों का आनन्द लौकिक विषयों से जुड़ा रहता है, रसों का आनन्द सूक्ष्म आनन्द की अनुभूति से है।

भावों की अनुभूति संसार के अच्छे-बुरे, ऊँचे-नीचे, छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुषों, सभी को हो सकती है, रस की अनुभूति केवल संवेदनशील हृदय-वाले व्यक्तियों को ही होती है। भावों का सम्बन्ध विषयों से है, रस का केवल अनुभूति से।

रस की अनुभूति -

रस की अनुभूति किस प्रकार होती है? किसको होती है? इस विषय पर संस्कृत-काल से लेकर आज तक हजारों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। भरत के अध्याय ६ के श्लोक ३१ के बाद सूत्र 'तत्र विभावानुभावव्यभिचारी-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः ने इस प्रसंग में सबसे पहले भट्टलोल्लट को रस की निष्पत्ति पर लिखने को प्रेरित किया। यह कहना कठिन है कि भट्टलोल्लट किस शताब्दी में हुए थे। इतना स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त से पहले अवश्य हुए थे। कारण यह है कि अभिनव गुप्त ने उनके मतों की समीक्षा अपने ग्रन्थ में की है। तब से प्रारम्भ होकर रस का यह सिलसिला आज तक चलता ही आ रहा है।

हम यहाँ भरत के अनुसार उनका दृष्टिकोण सीधी भाषा में प्रस्तुत कर रहे हैं। भरत इस सूत्र के प्रारम्भ में 'तत्र' शब्द लगाता है। प्रायः सभी विद्वानों ने तत्र शब्द की उपेक्षा की है। यदि भरत की दृष्टि में इस शब्द का कोई महत्व न होता तो वह इसका प्रयोग कभी न करता। तत्र यद्यपि सांकेतिक शब्द है। भरत का सन्दर्भ दृश्य काव्य है। अतः तत्र का अर्थ 'प्रयोग काल' बन जाता है।

प्रयोग काल में पात्र लेखक द्वारा सृजित स्थायी भाव से अपने मन को पहले विभावित करता है या यों कहें कि प्रयोग के समय लेखक का स्थायी भाव पात्र के मन में पहले विस्थापित होता है। पात्र का मन उसके अनुसार अनुकरण मूलक क्रियाएँ प्रारम्भ कर देता है, उस अनुकरण में व्यभिचारी और सात्त्विक भावों को पात्र मूर्तमान करता है। जैसे ही प्रयोग में पात्र के माध्यम से लेखक का स्थायी भाव दर्शकों के समक्ष मूर्त होने लगता है, पहले दर्शकों का चित्त उस भाव से विभावित या प्रभावित होता है। प्रभावित होते ही दर्शक का सम्बन्ध बाह्य से टूट कर केवल मन के लोक से जुड़ जाता है। वह मन ही मन उन भावों का भावन करता है। पात्र द्वारा प्रस्तुत विभिन्न प्रकार के भाव दर्शक की मनोभूमि को लेखक के स्थायी भाव के समीप पहुँचा देते हैं और स्थायी भाव की दुनिया में पहुँचते ही दर्शक एक मनोदशा विशेष की अनुभूति में सिमट जाता है। वह मनोदशा उसे मानसिक आनन्द के सागर में गोते लगवाना प्रारम्भ कर देती है और दर्शक उस स्थायी भाव से सम्बन्धित रस का अलौकिक आनन्द लेने लगता है।

भरत रस का प्रसंग प्रारम्भ करते ही सबसे पहले यह घोषणा कर देता है कि रस के बिना किसी भी नाट्यांग की दर्शक को सही जानकारी नहीं होती। यह सत्य ही है। नाट्य प्रस्तुति का उद्देश्य रस के माध्यम से आनन्दमय बन जाता है।

भरत की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने व्यक्तिगत विषय को सामाजिक बना दिया। रोचकता मूलतः व्यक्ति सापेक्ष होती है। किसी एक चीज में एक व्यक्ति को रुचि हो सकती है, उसी बात में दूसरे को रुचि हो, वह आवश्यक नहीं। भरत ने रस के माध्यम से रुचि को सार्वजनिक बना दिया। प्रदर्शन में सभी दर्शकों को समान रूप से रुचि उत्पन्न हो जाती है और सभी का चित्त एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है।

रस वस्तुतः पूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यह समाज का मनोविज्ञान है, सामूहिक मनोविज्ञान है, पूरे लोक का मनोविज्ञान है।

रस वस्तुतः भरतों की ऐसी अनूठी देन है, जिसका विकल्प आज तक खोजा नहीं जा सका और इसको त्यागने का साहस कोई कर नहीं पाता। रस

न इतना व्यापक रूप धारण कर लिया है कि यह नाट्य से चलकर काव्य, कथा, उपन्यास, संगीत, चित्रकला , नर्तन-वादन आदि का अनिवार्य अंग बन गया है। इसका अस्तित्व न कभी मिटा है और न आगे मिट सकेगा।

पिछले कुछ दशकों में प्रगति के नाम पर समाज के कुछ वर्गों की मानसिकता बदली है। सन् १९५० के बाद साहित्य और कला के क्षेत्र में नयी मान्यताओं का तेजी से प्रसार-प्रचार हुआ है। इस वैचारिक आन्दोलन का प्रमुख स्वर पुरातन परम्पराओं को नकारना था। साहित्य और कला के क्षेत्र में नई दृष्टियों, नई परिभाषाओं और नये मूल्यों की स्थापना हुई। समाज का युवा-वर्ग इस नयेपन के नारे से बहुत प्रभावित हुआ और उसकी मानसिकता परिवर्तित होती चली गई।

नयेपन का नारा एक अच्छा वैचारिक आन्दोलन सिद्ध हुआ। इस नयेपन का मुख्य आधार विदेशी सभ्यता का प्रभाव था। कुछ समय के लिए सारे समाज की मान्यता यह बन गई कि विदेश की प्रत्येक वस्तु, बात और विचार हमसे अधिक श्रेष्ठ हैं। विदेशी सभ्यता की तुलना में हमारी सभ्यता अपूर्ण और पुरातन पंथी हैं।

इसी खेमे के लोगों ने रस का भी विरोध किया। रस की अवधारणा को पुरातनवादी कहकर लोगों का आह्वान किया गया कि अब हम पुराने जमाने में न रहकर नये युग में जी रहे हैं अत: दकियानूसी बातों को छोड़कर हमें नये युग की नई दृष्टि से सोचना चाहिये। सभ्यता के बदलते हुए माहौल में यह विचार तेजी से फैल गया और अधिकाँश साहित्यकारों तथा कलाकारों की मानसिकता ऐसी बन गई कि वे पुरानी परम्परा, उससे सम्बन्धित मान्यताओं तथा शब्दों से जानबूझ कर दूर होते गये।

साहित्य और कला के क्षेत्र से रस और उससे सम्बन्धित मान्यताओं को बहिष्कृत कर दिया गया। यदि कोई रस की चर्चा करता उसे पुरातनवादी कहकर उसका व्यंग्य किया जाने लगा। रस को निरर्थक और अनावश्यक कहकर ऐसा वातावरण बना दिया गया कि रस की चर्चा करने वाले के समाज में असभ्य माना जाने लगा।

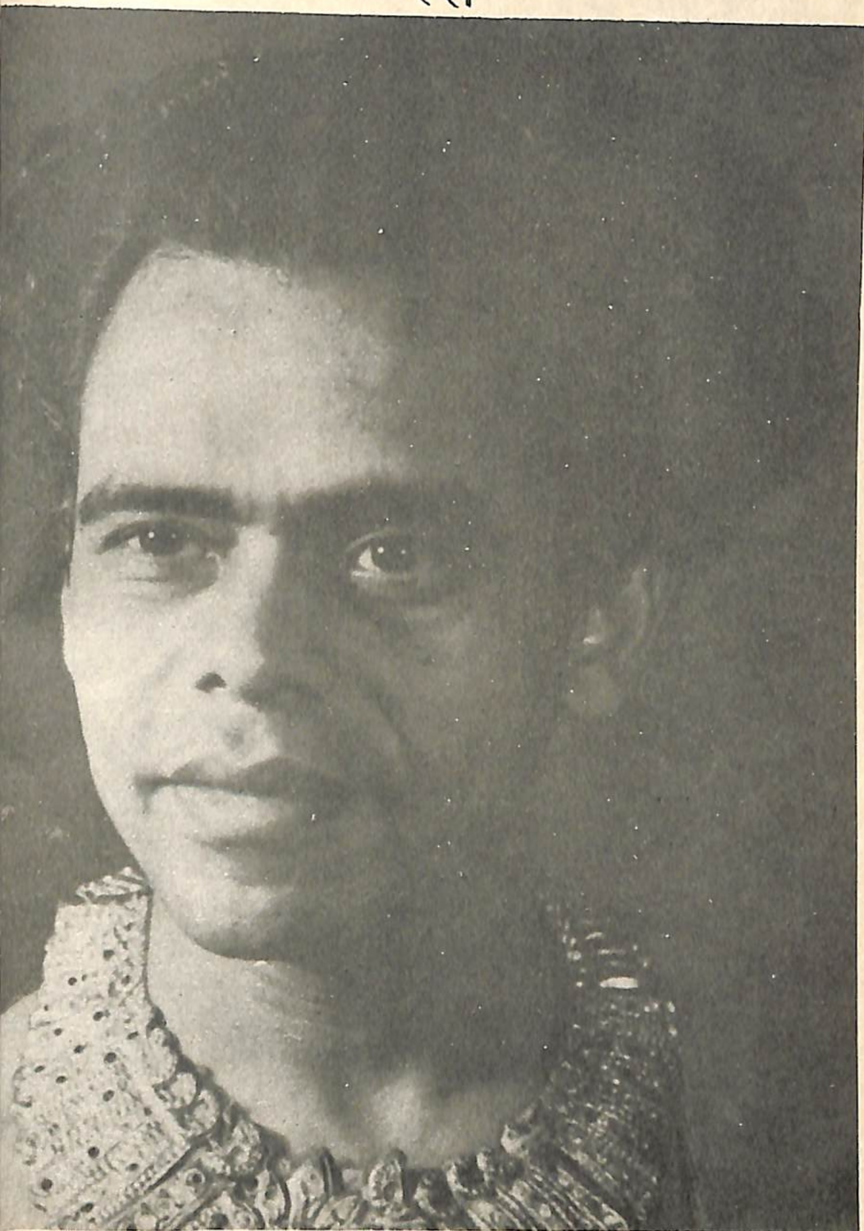
इस सारे वैचारिक आन्दोलन की सबसे बड़ी कमी यह थी कि इस प्रबुद्ध वर्ग ने कभी भी गम्भीरता से रस पर विचार करने की चेष्टा नहीं की। नये युग के प्रवर्तकों में से अधिकांश लोग अंग्रेजी भाषा के जानकार थे, संस्कृत से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। रस का मूल सम्बन्ध संस्कृत भाषा से था। यदि ये लोग कभी गम्भीरता से बैठकर रस और उसके विभिन्न पक्षों पर चिन्तन-मनन करते तो निश्चित रूप से इन्हें यह मानना पड़ता कि रस शब्द चाहे पुराना हो, किन्तु उसकी प्रक्रिया और प्रयोग के अंग चिरन्तन हैं। नाम चाहे बदल जाये लेकिन उसका कार्य कभी नहीं बदल सकता। रस का अर्थ है- **मन को अच्छा लगने वाला** या यों कहें कि किसी रचना में निहित उसका **सौन्दर्य** और उस **सौन्दर्य की अभिव्यक्ति** की प्रक्रिया।

नव चेतनावादी वर्ग के लोगों की बुद्धि जैसे-जैसे समय के साथ प्रौढ़ होती गई, उनके अनुभव और दृष्टिकोण में अन्तर आने लगा, उन्होंने पुन: रस की सत्ता को स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया। अब पुन: वह समय आ गया है कि रस का महत्व लोग मानने लगे हैं।

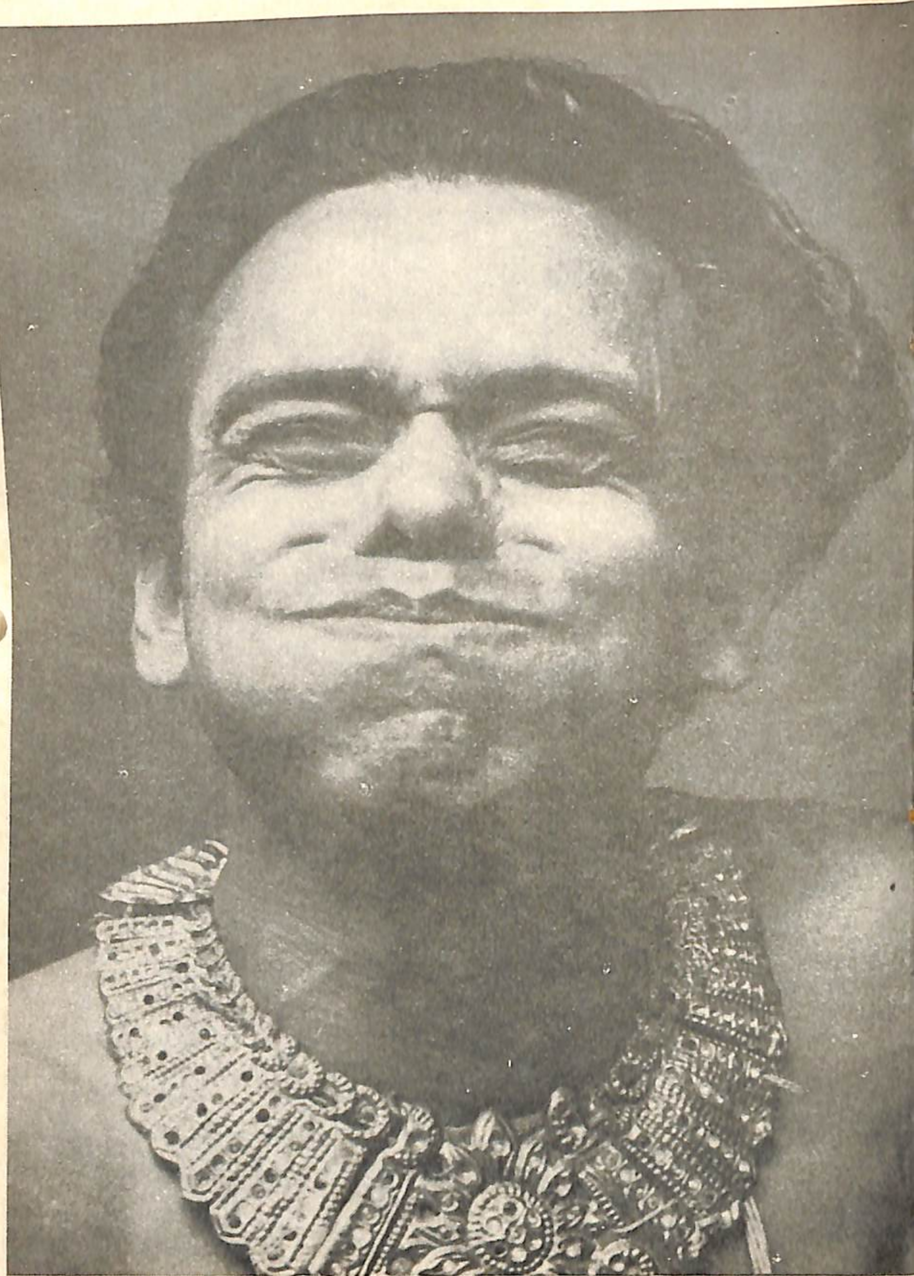
इधर भारतीय पुरातन संस्कृति के प्रति पुन: सारे देश में जागरण की लहर दौड़ चुकी है। लोगों की मानसिकता में बहुत अन्तर उत्पन्न हो गया है। अब लोग विदेश की आयातित परम्पराओं से ऊब कर भारत की पुरातन स्वर्णिम सम्पदा से जुड़ने लगे हैं। ऐसी स्थिति में रस का महत्व पुन: प्रकाशित हो उठा है।

जैसा पहले की कहा जा चुका है कि रस, उसके विकास की कहानी और उसके मानसिक आस्वादन की प्रक्रिया देशकाल से मुक्त हैं। यह मानवीय सभ्यता के ऐसे शाश्वत मूल्य हैं जो सदैव अजर-अमर रहेंगे। जैसे मनुष्य को भूख सदैव लगती रही है और आगे भी हमेशा लगती रहेगी, उसी तरह मनुष्य को मानसिक आनन्द की भूख सदा लगती रही है, आगे भी लगती रहेगी और मानसिक भूख को मिटाने वाला माध्यम रस रहा है। उसके नाम और रूप चाहे किसी युग में बदल जायें पर उसकी सत्ता का लोप नहीं हो सकता।

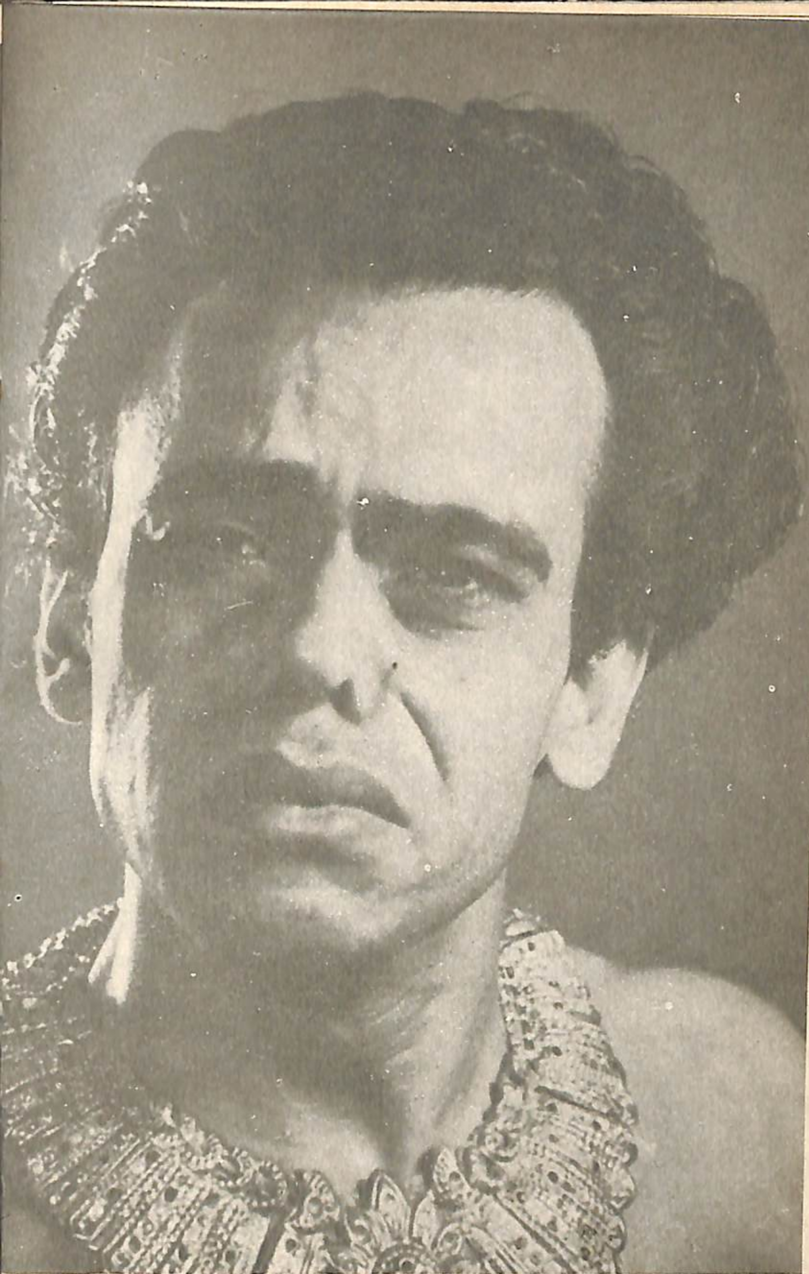
रस



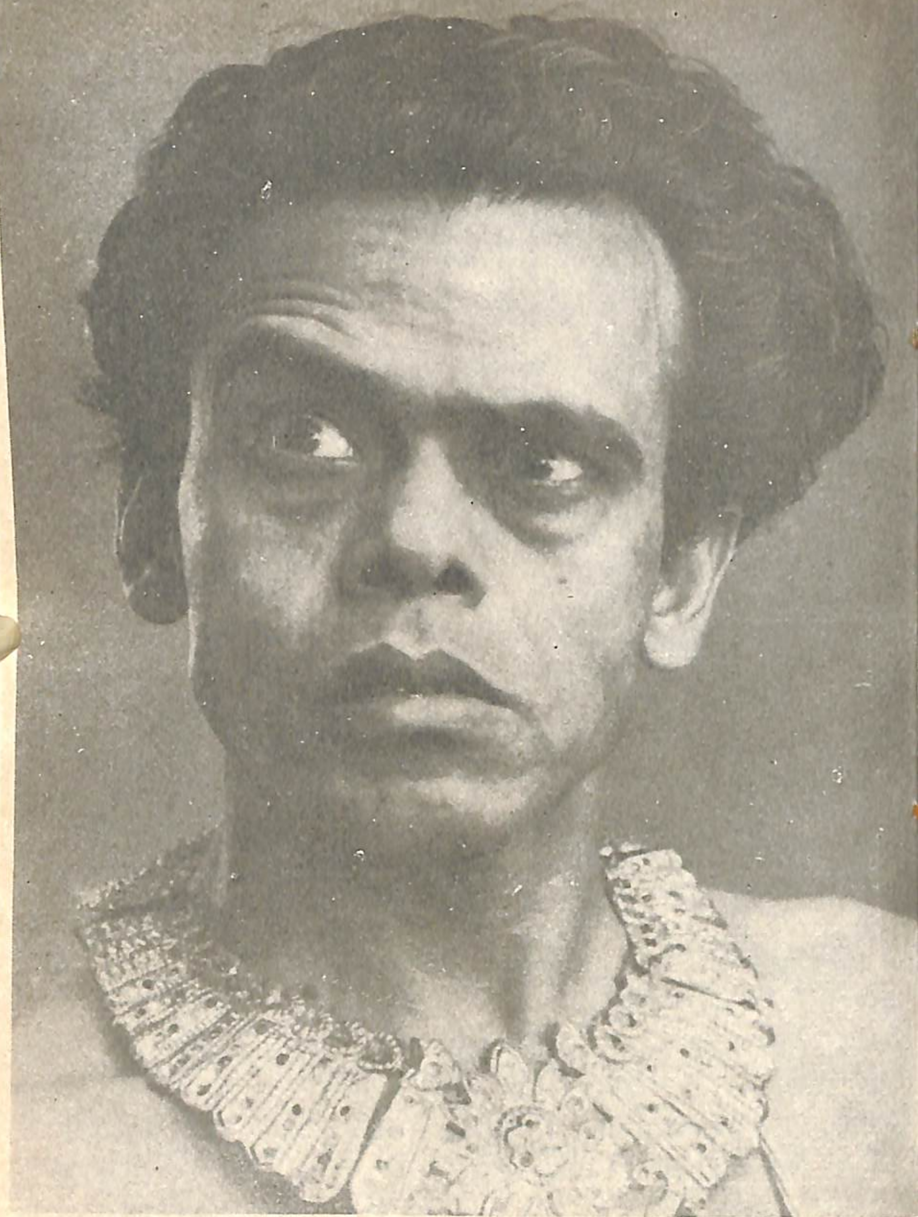
शृंगार



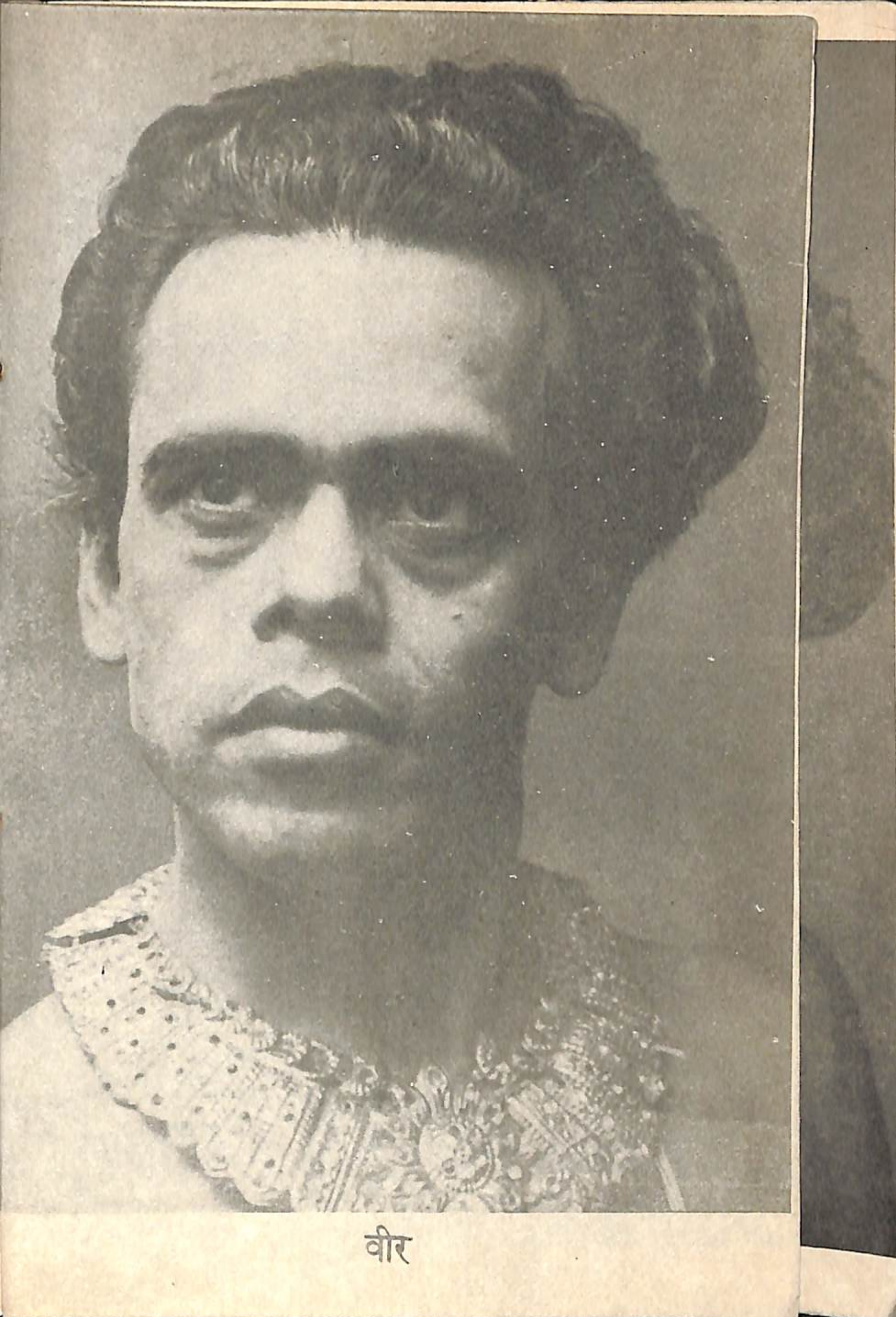
हास्य



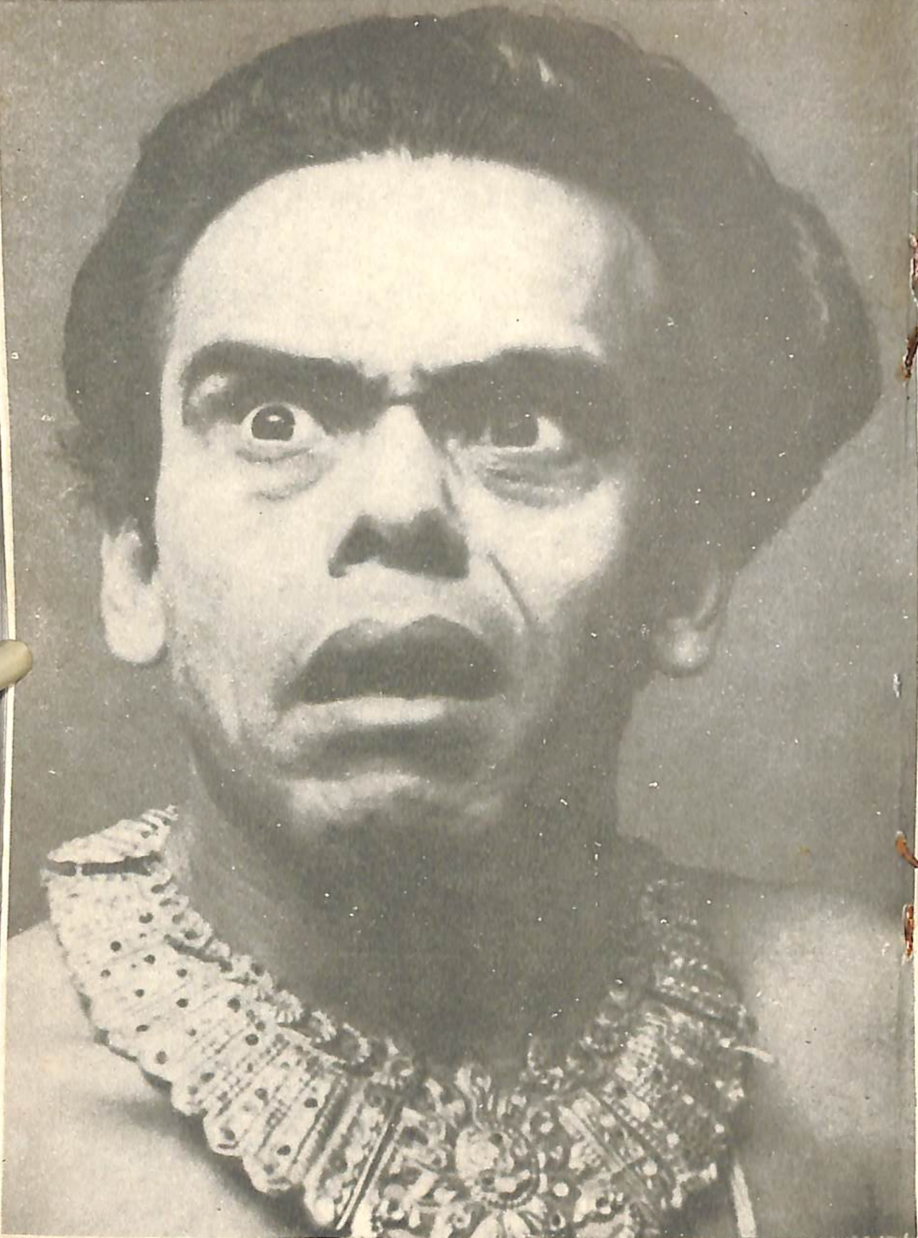
करुण



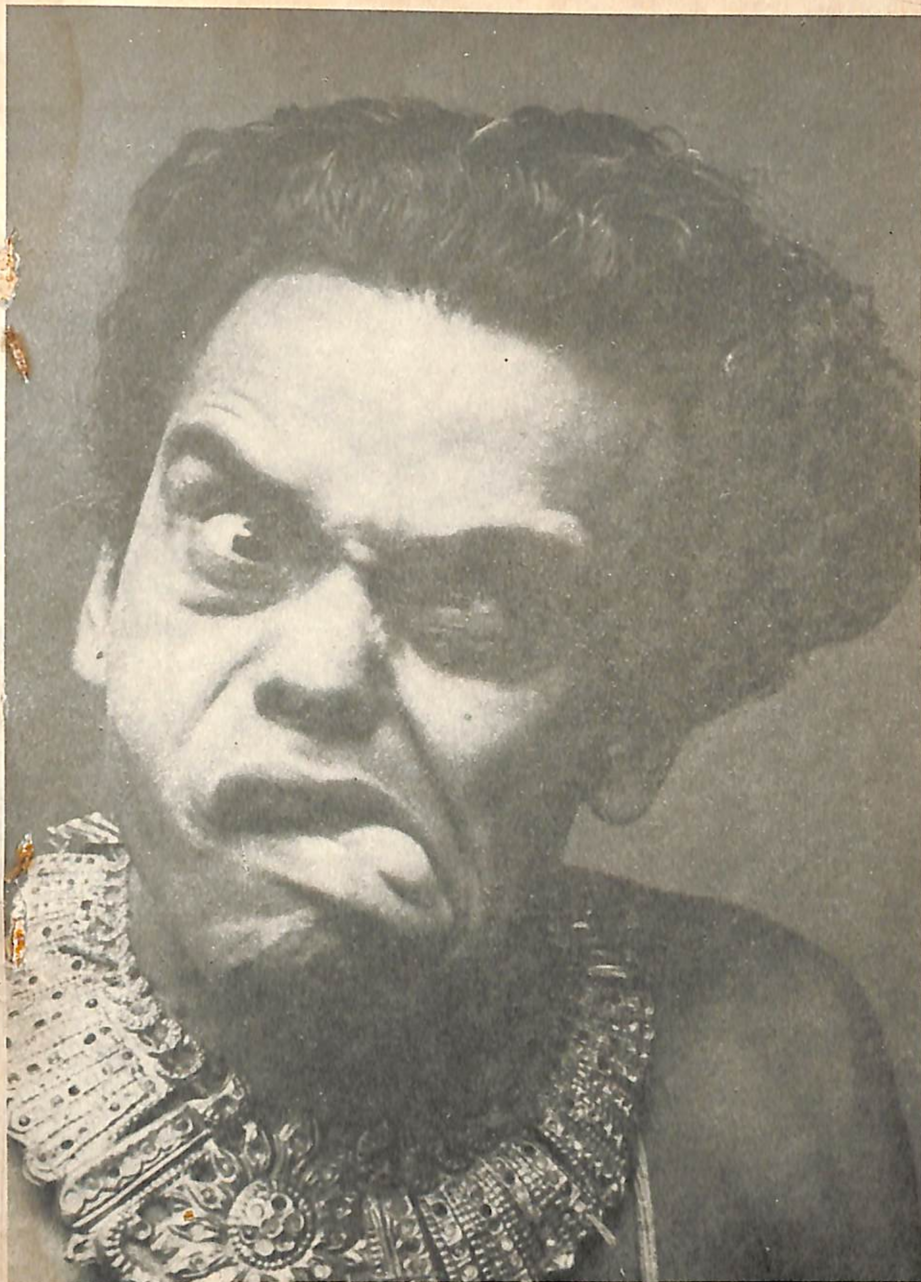
रौद्र



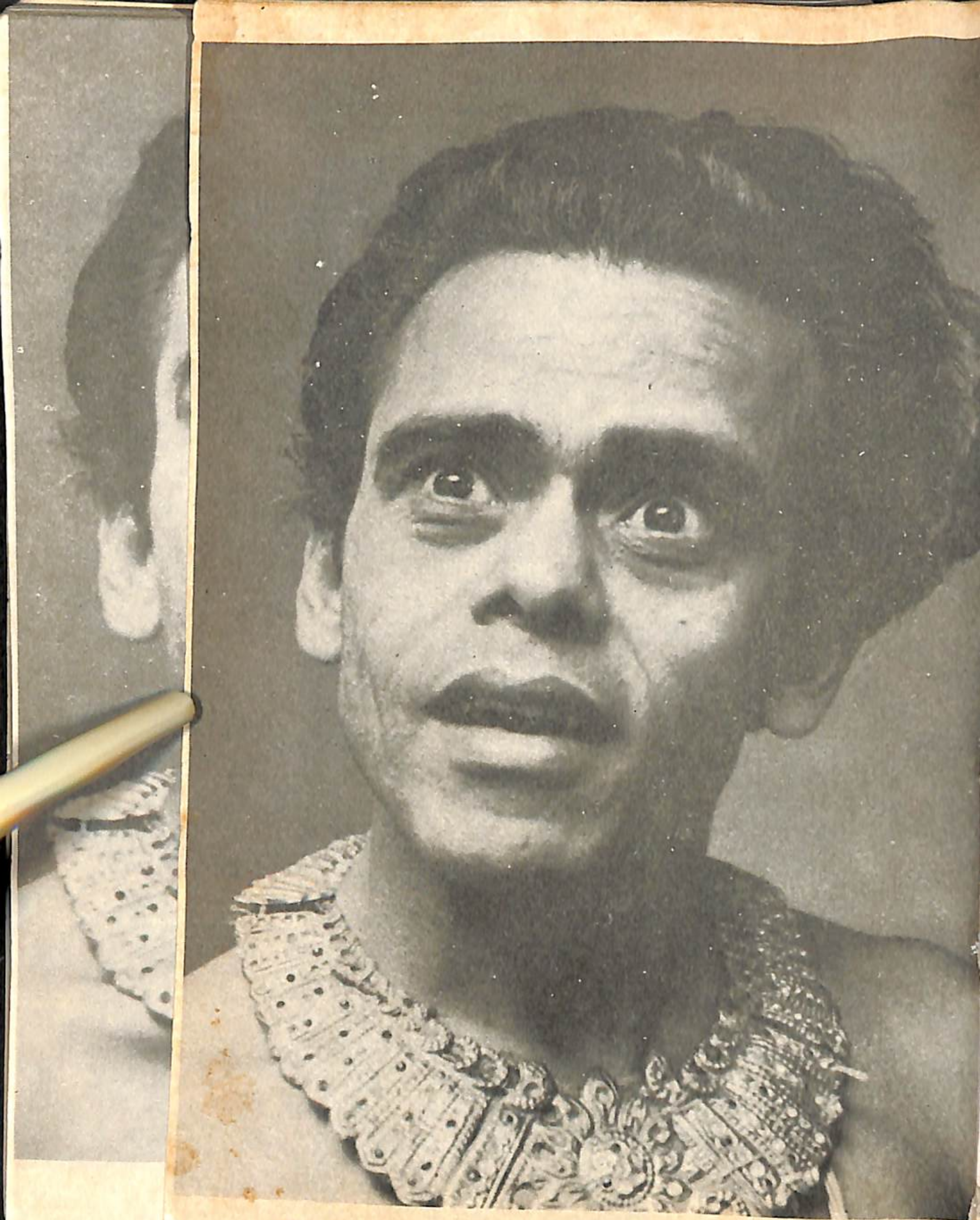
वीर



भयानक



बीभत्स



अद्भुत



PRESENTED BY

North Central Zone Cultural Centre

ALLAHABAD 211001